रघुवंश : एक विश्लेषण

लेखक

डा० देवी दत्त शर्मा

१९८१

देववाणी-परिषद्, दिल्ली

रघुवंश : एक विश्लेषण

लेखक :

डा० देवीदत्त शर्मा

एम० ए०, पी-एच० डी०, साहित्याचार्य

रीडर, संस्कृत-विभाग

पञ्जाब विश्वविद्यालय

चण्डीगढ़

प्रकाशिका

देववाणी-परिषद्, दिल्ली

६, वाणी-विहारः, नयी दिल्ली ११००५९

रघुवंश : एक विश्लेषण

(समीक्षा)

लेखक : डा० देवीदत्त शर्मा

© : लेखक

प्रकाशिका : देववाणी परिषद्, दिल्ली
६, वाणी-विहार, नई दिल्ली–११००५९ (भारत)

मुद्रक : देव प्रिण्टर्स एण्ड पब्लिशर्स
२६५, उत्तरी गांधी कालौनी, मुजफ्फरनगर–२५१००१

संस्करण : प्रथम, १९८१

मूल्य : रु० २०–०० बीस रुपये मात्र (पुस्तकालय संस्करण)

RAGHUVANṢA : EKA VIṢLEṢAṆA

(Criticism)

Author : Sharma, (Dr.) D. D.

© : Author

Publisher : Devavani Parishad, Delhi
6–Vani Vihar, New Delhi 110059

Printer : Dev Printers & Publishers
265-North Gandhi Colony, Muzaffarnagar

Edition : First, 1981

Price : Rs. 20–00 Rs. Twenty Only (Library Edition)

विषय-सूची

प्रास्ताविकम्

दो शब्द

(१) रघुवंश : एक शास्त्रीय विश्लेषण — १—१८

साहित्यिक जगत् में रघुवंश का स्थान, रघुवंश का उद्देश्य, रघुवंश का प्रेरणास्रोत, कालिदास की मौलिक उद्भावना का प्रतीक, वस्तुविन्यास, रघुवंश का नायकत्व, वस्तु-संयोजन पर कुछ आक्षेप और उनका निराकरण, वस्तु-विकास की अवस्थाएँ, वस्तु-विन्यास में चिन्त्य स्थल।

(२) रघुवंश के कलापक्ष का विश्लेषण — १९—४६

वस्तुविन्यास की कलात्मक योजना, भावनिरूपण, वातावरण की सृष्टि, व्यापार-व्यवस्था, रस-निरूपण, रूप-योजना अथवा छन्दोविधान, गुणरीति-विधान, अलंकार-विधान, प्रकृति-चित्रण।

(३) रघुवंश के भावपक्ष का विश्लेषण — ४७—७३

समानान्तर शब्दचयन, देशकालातीत सौदर्यव्यंजना, रघुवंश की भावचित्रयोजना, माधुर्य, स्नेह और विश्वास, सेवाभाव, भावतीव्रता के लिए विरोधी भावों की एकत्र योजना, भावपूर्ण तथ्यचित्रण, पृष्ठभूमि के साथ भावों का उभार, वात्सल्य भाव, शौर्य, भावों का संश्लिष्ट चित्रण, स्थानीय रंजन के साथ चित्रण, विम्बग्राही भावचित्रण, कारुण्य का चित्रण, दार्शनिक भावचित्रण, भावसंघर्ष, उदात्तभाव का चित्रण, विविध भावचित्रण प्रेम और आत्मोत्सर्ग की अपूर्व भावना का चित्रण, विविध भावचित्रण, वियोग और शृंगार, प्रेम और कर्तव्य, चारित्रिक दृढता आदि का चित्रण, उपसंहार।

प्रास्ताविकम्

देववाणी-परिषद्, दिल्ली' संस्थायाः सद्ग्रन्थप्रकाशनरूपमप्येकमुद्देश्यमस्ति । तदनुसारमद्यावधि परिषदा इमे संस्कृतभाषानिबद्धा ग्रन्थाः प्रकाशिताः-(१) **सुगमरामायणम्** (आचार्यश्रीरमेशचन्द्रशुक्लप्रणीतं महाकाव्यम्) (२) **श्रीकृष्णचरितम्** (आचार्यश्रीरमेशचन्द्रशुक्लप्रणीतं महाकाव्यम्) (३) **कर्णभूषणम्** (डॉ० सी० आर० स्वामिनाथ-कृतं नाटकशोकगीतिप्रबन्धात्मकं रचनात्रयम्), (४-५) **अर्वाचीनसंस्कृतमहाकाव्यविमर्शः** (रमाकान्तशुक्लसम्पादितः खण्डद्वयात्मकः समीक्षाग्रन्थः) (६)**हरिविजयस्य साहित्यिकमध्ययनम्** (डॉ०कृष्णकान्तशुक्ललिखितम्) (६)**श्रीमदप्पयदीक्षितचरितम्** (डॉ०हरिनारायणदीक्षितरचितम् गद्यकाव्यम्) **भाति मे भारतम्** (डॉ० रमाकान्तशुक्लप्रणीतं काव्यम्) (९) **भारतस्वातंत्र्यसंग्रामेतिहासः** (डॉ० रमेशचन्द्रशुक्लकृत (१०) **सदाशयसमुच्चयः** (श्री टी० वी० परमेश्वर अय्यरप्रणीतः) (११) **आभाणकमञ्जरी** (श्री टी०वी० परमेश्वरअय्यरप्रणीता) **देववाणीदर्शनम्** (डॉ० रमेशचन्द्रशुक्लादिसम्पादितम् च । परिषदा हिन्द्यां रचितः संस्कृतसाहित्यपरकं **'मेघदूत : एक विश्लेषण'** (डॉ० देवीदत्तशर्मरचितः) इति ग्रन्थोऽपि प्रकाशितः । इदानीं च परिषदियं पञ्जाबविश्वविद्यालयसंस्कृतविभागे 'रीडर' पदमलंकुर्वद्भिः, एम०ए०-साहित्याचार्य-पीएच०डी०-प्रभृत्युपाधिभूषितैः किञ्च स्व आजीवनसदस्यैर्डाक्टरदेवीदत्तशर्ममहाभागैर्हिन्दीभाषामाध्यमेन लेखितं संस्कृत- साहित्यपरकं **'रघुवंश : एक विश्लेषण'** इतिशीर्षकं ग्रन्थं प्रकाशयन्ती हर्षमनुभवति ।

अस्मिन् ग्रन्थे विदुषा लेखकेन कविकुलगुरुःकालिदासकृतस्य रघुवंशस्य अनितरसाधारणशैल्यां विश्लेषणात्मिका समीक्षा कृता । ग्रन्थोऽयं लेखकस्य गंभीराध्ययनस्य परिचायकः । आशासे, हिन्दीमाध्यमेन संस्कृत-साहित्यमवगाहितुकामाः पाठका अनेन ग्रन्थेन लाभान्विता भविष्यन्ति । डॉ० देवीदत्तशर्ममहाभागाः स्वकृतये वर्धाप्यन्ते । 'देववाणी-परिषद्' एतेषामाभारमावहति यदेभिः स्वग्रन्थस्य प्रकाशनमतोऽनुमतम् । कृपालवः पाठकाः क्वचिज्जातानि मुद्रणस्खलितानि शोधयितुं सादरं प्रार्थ्यन्ते ।

विदुषामाश्रवः
डॉ० रमाकान्तशुक्लः
महासचिवः
देववाणी-परिषद्, दिल्ली

२ जुलाई १९८१ ई०
६, वाणी-विहारः
नयी दिल्ली-११००५९

दो शब्द

कविकुलगुरु कालिदास के 'रघुवंश' का देश-विदेश के अनेक विद्वानों ने विविध दृष्टियों से अध्ययन किया है। इतने पर भी इस दिक्कालजयी कृति के अनेक दृष्टियों से अध्ययन की सम्भावना नकारी नहीं जा सकती। 'क इह रघुकारे न रमते' उक्ति रघुवंश की जहाँ लोकप्रियता की परिचायिका है वहीं अध्येताओं को यह अधिकार भी देती है कि वे अपनी-अपनी दृष्टि से इसमें रम सकें। प्रस्तुत अध्ययन में लेखक ने अपनी दृष्टि इसमें रमाने का प्रयास किया है।

'देववाणी-परिषद्, दिल्ली' संस्था के प्रति कृतज्ञ हूँ जिसने इस ग्रन्थ के प्रकाशन का भार वहन किया है।

२ जुलाई १६८१

ई ५३, सेक्टर १४, चण्डीगढ़

—देवीदत्त शर्मा

(१)

रघुवंश : एक शास्त्रीय विश्लेषण

साहित्यिक जगत् में रघुवंश का स्थान

साहित्यिक मूल्यांकन की दृष्टि से रघुवंश संस्कृत साहित्य की अमूल्य निधि है। इस मध्यमणि के विना संस्कृत-काव्यमाला का क्या सौन्दर्य तथा क्या मूल्य होता—कहा नहीं जा सकता। सच तो यह है कि ऐसे विस्तृत एवं व्यापक पटल वाला महाकाव्य कालिदास के उपरान्त इस देश में लिखा ही नहीं जा सका। विद्वानों का तो यहाँ तक अनुमान है कि भारतीय काव्यशास्त्र में महाकाव्य के लक्षणों का निरूपण रघुवंश को ही सम्मुख रखकर किया गया है। इस अनुमान में चाहे सच्चाई हो या न हो, किन्तु इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं कि रघुवंश महाकाव्य पिछले दो हजार वर्षों से प्रकाशस्तम्भ की भाँति भारतीय काव्य साहित्य का मार्गप्रदर्शन करता रहा है।

यह ठीक है कि विदेशों में कालिदास की यशःपताका को फहराने में उनकी अमर नाट्यकृति 'शाकुन्तल' तथा अभूतपूर्व गीतिकाव्य 'मेघदूत' का ही प्रमुख योगदान रहा है, किन्तु भारतीय विद्वानों ने पिछले डेढ़-दो हजार वर्षों से उनके इस महाकाव्य को ही उनकी श्रेष्ठतम कृति घोषित किया है। उन्होंने **'क इह रघुकारे न रमते'** जैसी सूक्तियों के द्वारा उन्मुक्त रूप से इस बात का सडिण्डिमघोष उद्घोष किया है कि यह इनकी श्रेष्ठतम तथा प्रौढतम कृति है। रघुवंश को उनकी प्रौढ़तम काव्यकृति मानने का भारतीय आचार्यों एवं काव्य-रसिकों का आग्रह निराधार भी नहीं। इसकी उद्भावना एवं रचना में कालिदास ने जिस मौलिक एवं वहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया है वह अन्यत्र कहीं भी इतने बड़े पैमाने पर सम्भव नहीं। 'हलायुध' ने कालिदास की काव्य-रचना

को जो विश्व-दर्पण की संज्ञा दी है।[1] वह उनके इस विशाल पटल वाले महाकाव्य के सन्दर्भ में सर्वथा सुसंगत प्रतीत होती है। महाकाव्य परम्परा में सभी दृष्टियों से रघुवंश का स्थान रामायण एवं महाभारत के तुरन्त वाद में आता है। वस्तु-विवेचन की ऐसी विविधता एवं वहुरूपता और कहीं मिल भी नहीं सकती।

रघुवंश का उद्देश्य

आचार्य मम्मट ने साहित्य को **'कान्तासम्मितयोपदेशयुजे'** कहा है पर वह कान्ता यदि कहीं विषकन्या की भाँति प्रियवादिनी और मादक रूपसी निकल पड़े तो समझिए कि सारा समाज ही विषाक्त हो जायेगा। 'कवित्तरस' अनौखा होता है। इसकी माधुरी को एक बार चख लेने पर फिर तो इसमें गहरी डुबकियाँ लगा कर ही चैन आया करता है। तभी तो रसिकवर विहारी ने कहा था —

तंत्रीनाद कवित्तरस सरस राग रतिरंग।
अनबूड़े बूड़े, तिरे जे बूड़े सब अंग॥

कवि के ऊपर ही यह सब कुछ निर्भर होता है। वह चाहे इसे विष की गागर वना दे चाहे अमृतघट। वह अपने समाज को विष-वारुणी पिलाकर नष्ट भी कर सकता है और अमृतरस पिलाकर अमर भी। क्योंकि साहित्यकार की कलात्मक रागिनी पर रीझा हुआ समाज उसके स्वर पर ऐसे ही नाचा करता है जैसे कि सँपेरे की बीन पर मन्त्रमुग्ध साँप। अतः काव्य-जगत् में कला का आकर्षक महत्त्व होते हुए भी वह उसका लक्ष्य नहीं माना जा सकता। कला यदि जीवन के लिए कुछ नहीं दे सकती तो वह उच्चकोटि की कला नहीं। वह सीमित देश के सीमित समाज को सीमित काल तक तो प्रभावित कर सकती है पर अनन्त देश–काल तक वह जीवित नहीं रह सकती। संसार में जिस किसी कलाकार की कला ने देश-काल की सीमाओं को पार किया है उसमें अवश्य ही कुछ महान् उद्देश्य एवं जीवन के कुछ शाश्वत तथ्य रहे हैं। अन्यथा क्षणिक सौन्दर्य की बरसाती नदियाँ शरद् की एक ही कड़ी धूप से सूख जाती हैं, महान् से महान् विषधर भी एक न एक दिन किसी शंकर के गले से नीचे उतर कर अपना अस्तित्व खो बैठता है। पर कालिदास की कविता ने प्रकाश-स्तम्भ की भाँति दो हजार वर्षों तक समय के थपेड़े सहे हैं और वह समाज को दीप्त करती रही है। निःसन्देह इसमें कुछ ऐसे तत्त्व होंगे

१. महाकविं कालिदासं वन्दे वाग्देवतागुरुम्।
यज्ज्ञाने विश्वमाभाति दर्पणे प्रतिबिम्बवत्॥

जिन्होंने कि इसे गौरव के साथ जीवित रखा है। अन्यथा यह कभी की काल-कवलित हो गयी होती।

'रघुवंश' कालिदास के प्रौढ़ जीवन की प्रौढ़ रचना है। इस समय तक महाकवि ने जीवन और जगत् को बहुत कुछ देख और समझ लिया था और उसके बारे में उसने अपनी धारणाएँ बना ली थी। उसके हृदय में उन सबको अभिव्यक्ति देने की एक तड़पन थी। उसके भीतर का महान् कलाकार, चिन्तक, आदर्शदर्शी एवं राष्ट्रप्रेमी व्यक्तित्व बाहर प्रस्फुटित होना चाह रहा था। इन सबके लिए उसने रघुवंश के रूप में एक ऐसे विशाल फलक की योजना की जिसमें कि उसके आदर्शों के अनुरूप भारत का एवं भारतीयता का सम्पूर्ण चित्र समा सके; भारतीय जीवन और आदर्शों की एक अभूतपूर्व झाँकी प्रस्तुत की जा सके। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए कवि को कहाँ-कहाँ क्या कुछ करना पड़ा—यह हम उसके वस्तु-विधान के प्रकरण में देखेंगे। अपनी इस कथावस्तु के परिवेश में इस क्रान्तदर्शी कवि ने यथास्थान और यथायोग, समष्टि और व्यष्टि के बीच जीवन की सम्पूर्णता का जो अंकन किया है वह आज भी भारतीय जीवन के लिए मानदण्ड बना हुआ है। प्रेम और कर्तव्य, अनुराग और विराग, भोग और योग, स्नेह और प्रतीकार, हिंसा और दया, संग्रह और त्याग का जो अनुपम एवं सर्वाङ्गीण रूप इसमें प्रस्तुत किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

रघुवंश का प्रेरणा स्रोत

'रघुवंश' का प्रेरणा-स्रोत आदिकवि का आदिकाव्य है यह तो निश्चित ही है। बहुत सम्भव है अपने काव्य के इस प्रकार के नामकरण की प्रेरणा भी वहीं से मिली हो, क्योंकि रामायण में 'रघुवंश' शब्द का प्रयोग अनेक विभिन्न सन्दर्भों में हुआ है।[1] कालिदास ने भारतीय आदर्शों के मानदण्ड स्थिर करने वाले इस आदिकाव्य का अवगाहन बड़ी श्रद्धा-भक्ति के साथ किया था, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं, पर लगता है कि कालिदास को इस ग्रन्थ का अवगाहन करते-करते यह बात बड़ी विचित्र लगी कि जिस महापुरुष के कारण राम को 'राघव' कहा गया तथा उनके वंश का 'रघुवंश' के नाम से व्यपदेश हुआ उस मूल महापुरुष का उसमें कहीं कोई उल्लेख नहीं यद्यपि इस वंश के अन्य महापुरुषों—सगर-अंशुमान-दिलीप-भगीरथ-इक्ष्वाकु आदि का संक्षिप्त उल्लेख किया

१. (i) रघुवंशस्य चरितं चकार भगवान् मुनिः (१/३/३९)
(ii) अवाप्य सीतां रघुवंशजामिमाम्।
(iii) अहं च रघुवंशश्च लक्ष्मणश्च महाबलः।।

गया है। इस विषय में आदि कवि की इस उपेक्षा ने महाकवि के मन को इस महापुरुष के तथा इसके वंश के विषय में जानने के लिए उत्सुक कर डाला और संलग्न हो गया वह इसके विषय में अधिकाधिक जानने में। विभिन्न स्रोतों से उसे जो कुछ विशृंखलित सामग्री हाथ लगी उसके तथा अपने **तनुवाग्विभव** के सहारे ही वह प्रौढ़ कवि चल पड़ा **रघूणामन्वयं** के बारे में कुछ कहने के लिए। महर्षि वाल्मीकि की **सर्वविषया** मति भी जिस **'सूर्यप्रभव वंश'** के महामानवों का पूरा चित्रण न कर पायी थी उनका **अल्पविषया मति** के द्वारा वर्णन करना यद्यपि **'उडुप'** से **समुद्रसंतरण** का सा दुःसाहस था[1] परन्तु इस वंश की खोज व छान-बीन में कालिदास को जो सामग्री हाथ लगी थी उसने उसके मन को इतना मुग्ध कर लिया था कि उसे प्रकाश में लाने के लोभ का संवरण नहीं कर सका (**तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः**)। इस कवि को **'कवियश'** की कामना तो पता नहीं, थी या न थी पर ऐसे आदर्श नायकों को पाकर संसार के सामने उनके रूप को काव्यमय भाषा में रखने की कामना को यह सर्वतोमुखीप्रतिभावान् महाकवि (यद्यपि वह अपने लिए 'मन्द' शब्द का प्रयोग करता है) नहीं रोक सका। अपनी समस्त विनीतता एवं शालीनता के साथ अपने पूर्ववर्ती मार्गदर्शकों के प्रति अधिकाधिक सम्मान प्रकट करता हुआ[3] तथा अपने कार्य के लिए मिल सकने वाले सम्भाव्य **'उपहास'** एवं 'आलोचना' के लिए तत्पर होकर[2] वह विश्वस्त किन्तु निरभिमान भाव से भारतीय काव्य के रंगमंच पर अवतरित होता है। रघुवंश की इस भूमिका में ही हम देखते हैं कि कालिदास अपने महान् व्यक्तित्व के साथ हमारे समक्ष उपास्थित होता है। उसकी स्पष्टता ईमानदारी एवं विनम्रता की ही हमारे हृदय पर ऐसी गहरी छाप पड़ जाती है कि हम इस रचना की महत्ता के बारे में विश्वस्त से हो जाते हैं।

'पूर्वसूरिभिः' के बहुवचनात्मक प्रयोग से कालिदास का संकेत वाल्मीकि के अतिरिक्त और कितने व्यक्तियों से हो सकता है यह यद्यपि निश्चित रूप से

---

१. क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्वचाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनाऽस्मि सागरम्॥ (रघु० १/२)

२. मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः॥ (रघु० १/३)

३. अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः॥ (रघु० १/४)

नहीं कहा जा सकता परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि दिलीप-रघु-अज के सम्बन्ध में कुछ तथ्यपरक आधार काव्यात्मक भी हो सकते हैं और अनुश्रतिपरक भी। कवि द्वारा वर्णित प्राकृतिक एवं भौगोलिक रूपों की प्रामाणिकता देखकर विश्वास करना पड़ता है कि उसके इन वर्णनों में भी तथ्य का अंश अवश्य होना चाहिए, फिर वे तथ्य पौराणिक ही क्यों न हों। कालिदास जैसा तथ्य-वादी कवि अपनी प्रतिभा के वल पर सामान्य घटना को असामान्य रूप तो दे सकता है पर सर्वथा निराधार चित्रण नहीं कर सकता, उसकी अन्य रचनाओं का अनुशीलन करने से भी यही विश्वास दृढ़ होता है। उनके सभी काव्य-नाटकों की रूपरेखा वेद, पुराण, इतिहास या अनुश्रुति पर आधारित है। कवि अपनी अलौकिक प्रतिभा के वल पर उसकी प्राणप्रतिष्ठाभर करता है।

चाहे जिस स्रोत से भी पहुँची पर इतना तो स्पष्ट है ही कि महाकवि के कानों में उन महामानवों की गुणगाथा पहुँच चुकी थी जोकि "जन्म से मृत्यु-पर्यन्त शुद्ध एवं पवित्र रहते थे, जो किसी काम को शुरू करने के बाद उसे पूरा करके ही दम लेते थे, जिनका साम्राज्य हिमवान् से लेकर भारत के समुद्री छोरों तक फैला हुआ था, जो शास्त्रों में विहित विधि से यज्ञाग्नि की आराधना करते थे, माँगने वालों को मनचाहा दान देते थे, अपराध के अनुरूप ही दण्ड विधान करते थे, उचित अवसर देखकर काम करते थे, त्याग के लिए ही धन एकत्रित करते थे, जो कहते थे कर दिखाते थे, केवल यश की स्थापना के लिए विजय यात्रायें करते थे, संतति के लिए ही विवाह करते थे। जो वचपन में विद्याभ्यास करते थे, यौवन में सांसारिक सुखों का भोग करते थे, वृद्धावस्था में ऋषि-मुनियों की तरह जीवन बिताकर अन्त में योग-मार्ग से शरीर का त्याग करते थे।"[1]

इन महामानवों के चरित्रों के विषय में इतना सब कुछ जान लेने के बाद स्वभावतः आर्य आदर्शों के गायक इस महाकवि की अन्तरात्मा सारे संसार को

---

1. सोहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम्।
आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम्॥
यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम्।
यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम्॥
त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम्॥
शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥ (रघु० १/५—८)

उनकी अमर गाथाएँ सुनाने के लिए चंचल हो उठती है (१/६)। उसे इन चरित्रों में समस्त आर्य जाति के आदर्श प्रतिबिम्बित दिखाई देते हैं। इसलिए तो कहा जाता है कि कालिदास की यह महाकृति, रघु के वंश का आदर्श चरित्र नहीं अपितु समस्त आर्य जाति के आदर्शतम रूप को प्रस्तुत करती है। ऐसा करने में उसे कितनी सफलता मिल सकी है इसका निर्णय कवि ने काव्य और जीवन के उन पारखियों पर छोड़ दिया है जो कि 'सत्' और 'असत्' में भेद करने की सामर्थ्य रखते हैं।[१] और उन काव्य-पारखियों की वाणी से ही हमें भी पता लगता है कि कालिदास की कला का यह खरा सोना ज्यों-ज्यों समय और आलोचना की आग में तपता गया है त्यों-त्यों कुन्दन वनता चला गया है। इस महाकाव्य में महाकवि ने आदि से अन्त तक जिस मौलिक चित्रण, कल्पना एवं अभिव्यक्ति का परिचय दिया है वह समस्त संस्कृत 'साहित्य तो क्या विश्व' साहित्य में बेजोड़ है। इतने विशाल कथानक को सुसम्बद्धता के साथ विना किसी प्रकार की पुनरावृत्ति के प्रस्तुत करना कालिदास जैसे प्रौढ़ एवं सुलझे हुए कवि का ही काम था। 'रघुवंश' वस्तुतः भारत का राष्ट्रीय महाकाव्य है।

कालिदास की मौलिक उद्भावना का प्रतीक

'रघुवंश' कालिदास की मौलिक उद्भावना का एक ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत करता है। यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि कवि ने इस महाकाव्य की रूपरेखा के लिए सामग्री किन-किन स्रोतों से प्राप्त की पर इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि रघुवंशियों की यह कथा इस रूप तथा इस क्रम में इससे पूर्व किसी कवि द्वारा निबद्ध नहीं हो सकी थी। इसमें सन्देह नहीं कि कालिदास को रघुवंश लिखने की प्रेरणा वाल्मीकि-रामायण से मिली थी और **'अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः'** के द्वारा कवि ने बड़ी ईमानदारी के साथ यह भी स्वीकार किया है कि इस कथानक के विभिन्न अंशो पर यत्र-तत्र छुट-पुट रूप से अन्य कवियों द्वारा भी कुछ प्रकाश डाला जा चुका था पर जिस सुसम्बद्ध रूप में कालिदास ने इसे प्रस्तुत किया है, अपनी मौलिक प्रतिभा से इसे जो अमरता प्रदान की है वह समस्त विश्व को उसकी अपनी निजी देन है। किस महाकाव्य के द्वारा कालिदास ने इस उद्देश्य की सिद्धि की तथा भारतभूमि को क्या कुछ दिया इस पर हम अगले पृष्ठों में विस्तारपूर्वक विचार करेंगे। यहाँ इतना टाँक लेना ही पर्याप्त होगा कि यह ग्रन्थ केवल रघु

१–त सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा॥

के वंश का ही आदर्श चरित नहीं, अपितु समस्त आर्य जाति के आदर्शों का प्रतीक है। कालिदास ने बड़ी बुद्धिमत्ता से रघु के वंश को कथानायक के पद पर प्रतिष्ठापित करके भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के आदर्शों के विविध पक्षों को दिखाने का सुन्दर अवसर निकाल लिया है।

वस्तु-विन्यास

कालिदास ने इस महाकाव्य के वस्तु-विन्यास में जिस कौशल एवं कलात्मकता का परिचय दिया है वह स्वयं उसकी महानता का द्योतक है। स्पष्ट है कि उसने जब 'रघुवंश' की रचना का विचार किया तो उसके सामने सूर्यवंशी राजाओं की एक दीर्घ नामावली थी और इससे सम्बन्धित एक विशाल ऐतिहासिक सामग्री भी। ५०० सर्गों एवं २४ हजार श्लोकों में निबद्ध वाल्मीकि-रामायण को भी इसी के कलेवर में समाना था। इतने बड़े कथानक को संभालना कोई आसान काम नहीं था। राजाओं और उनके कार्यकलापों की गणना में पाठक कहाँ तक रुचि ले पाता। बस दो, चार, छह में जाकर उकता जाता। पर यहाँ तो २७ नरेशों के बारे में बतलाना था। भला कोरे ऐतिहासिक वर्णन में पाठकों का मन कब तक और कैसे लगता। पर धन्य है उस रससिद्ध कवीश्वर को जिसने इतने विशाल कथानक को इस कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया कि अन्त तक न पाठक की अभिरुचि का व्याघात होता है और न कथाप्रवाह में ही कोई अवरोध उत्पन्न होने पाता है।

वस्तुसंगठन की दृष्टि से कालिदास के सामने वाल्मीकि की अपेक्षा बहुत बड़ा काम था। वाल्मीकि के काव्य का केवल एक नायक था और उसी को केन्द्र मानकर उसके चारों ओर ही समस्त रामायण के कथानक का विकास होता है पर कालिदास को यह सुविधा प्राप्त न थी। उसे दर्जन से अधिक नायकों को एक सुसम्बद्ध रूप में प्रस्तुत करना था पर वह इसे पुराणों की वंशावली भी नहीं बनाना चाहता था। उसकी विशाल कल्पना रघुवंश के दो-चार प्रतापी नरेशों का गुणगान करके ही सन्तुष्ट भी नहीं होना चाहती है। वह बहुत बड़ी कामना लेकर इस क्षेत्र में उतरता है। उसकी कल्पना में जातीय जीवन का एक ऐसा बहुमुखी आदर्शोन्मुख चित्र है जिससे कि वह इस विशाल पटल पर चित्रित कर डालना चाहता है। उसकी अन्तरात्मा भारतीय संस्कृति से लबालब भरे हुए एक सरोवर की अपेक्षा अनेक धाराओं में प्रवाहित होने वाली स्रोतस्विनी को देखकर अधिक उल्लसित एवं तरंगित होना चाहती है। वह

आदर्शों का अधिष्ठान व्यष्टि विशेष में नहीं अपितु समष्टि में देखना और दिखाना चाहता है। कालिदास की यही आकांक्षा है जोकि उसे इतने बड़े राजवंश को अपना कथानायक बनाने के लिए प्रेरित करती दिखाई देती है।

इसीलिए हम देखते हैं कि वह 'रघुवश' का कथानक इसके प्रथम नरेश वैवस्वत मनु से प्रारम्भ करता है और उसे दिलीप तक ले जाता है। ऐसा लगता है कि यह विमलधारा अबाध गति से सैंकडों वर्षों तक बहती रही और यहाँ आकर रुकती सी जान पड़ने लगी। अतः कवि ने 'अन्वय' की चिन्ता को ही काव्य का मुख्य विषय बनाया और अन्त तक इस सूत्र को थामे रखा। इस 'अन्वय' की चिन्ता और उसके निराकरण में ही रघुवंश के कथानक का ताना बुनता जाता है। ऐसा लगता है कि कवि ने सूर्यवंशियों के जिन महान् अनुकरणीय गुणों को श्रवणगोचर किया हुआ था, जिन्होंने उसे काव्य-रचना के लिए प्रेरित किया था, वे इतने अधिक एवं विविध-रूप थे कि उन सबका समावेश एकत्र सम्भव ही नहीं हो सकता था। अतः कवि ने पूर्वश्रुत कथानकों की सीमा-रेखाओं में ही अपनी प्रतिभा के बल पर अपने आदर्शों के अनुरूप कुछ मौलिक चित्र उभारे और उनमें रंग भरना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार दिलीप से लेकर अतिथि तक की सात पीढ़ियों मे सभी प्रमुख गुणों का चित्रण कर डाला। एक से एक अनोखा और एक से एक आकर्षक। पर नहीं, कवि को इतने से ही तृप्ति नहीं हुई। वह दिखाना चाहता है, दिखाना ही नहीं, वरन् मन में यह भाव स्थिर कर देना चाहता है कि इस राजवंश में इन आदर्श मानवीय गुणों की यह भागीरथी निरन्तर बहती रही। इसीलिए वह संक्षेप से ही सही इसके आगे २० और नरेशों का उल्लेख करता जाता है तथा अन्त में अग्निवर्ण के नाश के बाद भी भावी के गर्भ में इन महान् आदर्शों की कामना को सँजोकर रख देता है।

कवि आदर्शोन्मुख अवश्य रहा है पर साथ ही वास्तविकता से मुँह मोड़ने का प्रयास उसने नहीं किया है। वह इस उज्ज्वल वंश में लगे हुए काले धब्बे को छिपाना नहीं चाहता, वरन् एक यथार्थवादी की भाँति उसे उघाड़कर दिखा देता है। वह गन्दगी पर पर्दा डालने की अपेक्षा उसे उघाड़कर दिखा देना तथा उस मार्ग पर कदम बढ़ाने वालों को सावधान कर देना अधिक उपयुक्त समझता है। इसीलिए तो उसने अग्निवर्ण के विलास का ऐसा नग्न-चित्र उपस्थित कर दिया है तथा उसका ऐसा कारुणिक अन्त दिखाया है। कालिदास के इस आदर्श को ठीक-ठीक न समझ सकने के कारण ही कुछ

आलोचक अग्निवर्ण की विलासिता के नग्न-चित्रण एवं रघुवंश काव्य के इस दुःखान्त रूप के लिए कालिदास को दोषी ठहराते हैं। वस्तुतः कालिदास ने रघुवंश की वस्तु-योजना में व्यष्टि और समष्टि, आदर्श और यथार्थ का जो सुन्दर सम्मिश्रण प्रस्तुत किया है वह अद्‌भुत है।

रघुवंश का नायकत्व

कालिदास के इस महाकाव्य का असली नायक कौन है, इस बात को ठीक-ठीक न समझ पाने के कारण ही कई आलोचकों ने कालिदास की इस अनुपम कृति पर तरह-तरह के आक्षेप किए हैं। किसी को इसमें कथानक की एकसूत्रता का अभाव दिखाई देता है तो किसी को इसमें असम्बद्धता ही दिखाई देती है। कोई रामकथा के आधार पर इसमें महाकाव्य के अन्तर्गत महाकाव्य की रचना का आरोप लगाता है तो कोई इसके कथापात्रों—कुश, ध्रुवसन्धि वा अग्निवर्ण की मृत्यु के कारण इसे भारतीय काव्यशास्त्र परम्परा के विरुद्ध दुःखान्त होने के लिए दोषी ठहराता है। ऐसे ही और भी अनेक आक्षेप इसकी वस्तु-योजना तथा रूप-विधान के बारे में किये जाते हैं जोकि प्रायः एक ही भ्रमात्मक मूल से उत्पन्न हैं।

वस्तुतः लोगों ने दिलीप—रघु—अज आदि को ही रघुवंश का नेता मान लेने की भूल की है। इसीलिए कोई इसे ऐसी बिखरी हुई सामग्री के रूप में देखता है जिसे कि कालिदास ने जबर्दस्ती एक सूत्र में पिरोने का यत्न किया है और इसके लिए उसे एक को मारकर उसके उत्तराधिकारी के लिए स्थान बनाना पड़ा है तो कोई कुश—अग्निवर्ण आदि को भी इसका नेता मान कर इसी आधार पर काव्य में नायक की मृत्यु को भारतीय काव्यशास्त्र परम्परा के विरुद्ध कहकर उसकी आलोचना करता है। कालिदास को भी इस काव्य की रचना के समय शायद लोगों में इस प्रकार की भ्रमात्मक धारणा उत्पन्न हो जाने की आशंका रही हो। इसीलिए तो उसने काव्य रचना की बात सामने आते ही पहले ही स्पष्ट शब्दों में कह दिया—**'रघूणामन्वयं वक्ष्ये'** अर्थात् मैं दिलीप-रघु आदि किसी नरेश के विषय में नहीं अपितु उनके 'अन्वय' के विषय में ही कुछ कहूँगा। पर फिर भी लोग रघु आदि नरेश तथा उनके वंश के बीच किसी प्रकार के अभेद की स्थापना न करलें इसके लिए अगली ही पंक्ति में विशेष रूप से कह दिया—**'तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः'**। जरा ध्यान दीजिए कवि की वाणी पर तथा उसके 'सत्' और 'असत्' के लक्ष्य पर। 'सत्' और 'असत्' की सम्यक् 'व्यक्ति'

न होने के कारण ही तो भ्रम और आशंका का जन्म होता है। फिर कवि तो मंगलाचरण के तुरन्त बाद से ही यह कहता आ रहा है कि वह अपनी 'अल्प-विषया मति' से 'सूर्य-वंश' का गुणगान करना चाहता है नकि किसी व्यक्ति-विशेष का। ये व्यक्ति तो उस 'वंश वा अन्वय' के जीवन के विविध पक्षों के स्थानीय हैं। उनका अपना व्यष्टिगत महत्त्व भी है पर वह पूरी तरह निखरता है समष्टिगत रूप में ही।

इसीलिए कालिदास 'रघुवंश' की नींव ही वंश-विच्छेद की आशंका पर रखकर आगे बढ़ता है।[1] और जब यह अवरोध हटता है तो कवि दिलीप से यही कहलवाता है कि मुझे वंश को आगे बढ़ाने वाले यशस्वी पुत्र के अति-रिक्त और कुछ नहीं चाहिए—**वंशस्य कर्तारमनन्तकीर्ति सुदक्षिणायां तनयं ययाचे**, इस प्रकार जब 'वंश' नायक बन गया तो व्यक्ति तो बीच-बीच में आते रहेंगे और छूटते रहेंगे, इससे नायक की गति विच्छिन्न नहीं होगी। वह निरन्तर आगे बढ़ता रहेगा। इस प्रकार के नायक को आगे बढ़ाने के लिए जिस चीज की सबसे प्रमुख आवश्यकता होती है वह है 'विवाह'। अतः कवि इस परम्परा को बनाए रखने के लिए विभिन्न रूपों में विवाहदीक्षा एवं दाम्पत्य की योजना करता रहा है। अन्त तक जहाँ कहीं भी इसके दुर्बल होने या टूटने का प्रश्न आया है कवि ने सँभाल लिया है। अपनी प्रिया के विना जीवित रहने की कोई आकांक्षा न रहने पर भी अज इसलिए आठ वर्ष तक प्राण धारण करता रहा कि उसका बाल पुत्र अभी वंश के भार को ठीक प्रकार से सँभाल नहीं सकता था।[2] ऐसे ही राम के द्वारा निर्वासित की गयी सीता केवल इसलिए आत्महत्या नहीं करती कि उसके गर्भ में रघुवंश का तेज निहित है और उसे उसकी रक्षा करनी है।[3] सुदर्शन का ६ वर्ष की अवस्था में ही राज्याभिषेक हो गया और यही स्थिति है अग्निवर्ण के प्रसंग में भी। ठीक है कि अग्निवर्ण वंश के आदर्श **'प्रजायै गृहमेधिनाम्'** को भुलाकर विलासिता में लीन हो गया। अतः राज-यक्ष्मा का शिकार बनकर अकालमृत्यु का ग्रास हो गया। पर इससे क्या उसे अपने कुत्सित कर्मों का फल मिला, जोकि महाकवि के अनुसार मिलना ही चाहिए था, पर इससे 'रघुवंश' तो समाप्त नहीं हुआ, वह तो अब भी जीवित

---

१. रघु० १/३३–३५; ६५–७०.

२. रघु० ८/९२.

३. किं वा तवात्यन्तवियोगमोघे कुर्यामुपेक्षां हतजीवितेऽस्मिन्।
स्याद्रक्ष्यणीयं यदि मे न तेजस्त्वदीयमन्तर्गतमन्तराय॥ (रघु० १४/६५)

है। प्रजा अब भी किसी दिलीप-रघु वा राम के जन्म की लालसा लगाए बैठी। वंश परम्परा अब भी निरवच्छिन्न रूप से चल रही है। कुश, ध्रुवसन्धि–अग्निवर्ण अपनी-अपनी मौत मर जाते हैं इससे क्या हुआ, इनके अस्तित्व के मिटने के साथ 'रघुवंश' का अस्तित्व तो नहीं मिट गया। वह तो अब भी निरन्तर आगे बढ़ रहा है। नेता के जीवन के एक पक्ष के बीत जाने पर नेता समाप्त तो नहीं हो जाता, वह तो उसके जीवन का घात-प्रतिघात मात्र होता है। कालिदास के नायक 'रघुवंश' का अन्त तक सशक्त बने रहने का इससे बड़ा और क्या प्रमाण हो सकता है कि एक स्त्री राज्यसिंहासन पर अभिषिक्त हो जाती है परन्तु उस वंश का प्रताप कि किसी बाहरी शासक को आक्रमण तो क्या उसकी ओर दुर्भावना से देखने का भी साहस नहीं होता।

काव्यशास्त्र की दृष्टि से विचार करने पर भी हमारे सामने 'रघुवंश' की सुसम्बद्धता स्पष्ट हो जाती है। प्रबन्ध काव्य के वस्तु भाग का आधिकारिक एवं प्रासंगिक रूपों में विभाजन किया जाता है। संसार के सभी महाकाव्यों में इनकी सत्ता पायी जाती है। केवल मात्र आधिकारिक कथा पर महाकाव्य का प्रवन्ध नहीं हो सकता। उसे पुष्ट करने के लिए बीच–बीच में प्रासंगिक कथाओं की आवश्यकता होती है। उन्हीं से उसकी पुष्टि होती है। उन दोनों के बीच अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध होता है। रामायण, महाभारत, इलियड, ओडेसी आदि सभी में यह रूप पाया जाता है। कलाकार का महत्त्व इस बात पर निहित होता है कि उसने इनकी योजना किस प्रकार की तथा इनके पारस्परिक सम्बन्ध को किस प्रकार निभाया।

अपने इस महाकाव्य में कालिदास ने भी 'रघुवंश' वा 'सूर्यवंश' को आधिकारिक वस्तु के स्थान पर प्रतिष्ठापित करके विभिन्न नरेशों की कथाओं को प्रासंगिक रूप में प्रस्तुत किया है। रघुवंश की ये प्रासंगिक कथाएँ आधिकारिक कथावस्तु के साथ आदि से अन्त तक बड़ी सुसम्बद्धता के साथ गुँथी हुई हैं। कलाकार ने यह वस्तुग्रथन इतने कौशल के साथ किया है कि एक के बिना दूसरा सम्भव ही नहीं। उनके बीच ऐसा आन्तरिक सम्बन्ध स्थापित कर दिया है कि वे एक दूसरे की आधारभूमि या पूरक बन जाते हैं। ऐसा लगता है जैसे कि एक ही पात्र भिन्न–भिन्न अवस्थाओं में हमारे सामने आ रहा है। वस्तुतः बात भी ऐसी ही है। रघुवंश का प्रधान नायक 'रघुवंश' ही विविध रूपों में हमारे सामने उपस्थित होता है। वह कभी गोसेवा में रत होकर गौ की रक्षा के लिए अपने प्राणों की आहुति देने को उद्यत दिखाई देता है तो कभी अपने

पराक्रम से देवराज को भी ललकारता हुआ। कभी विशालवाहिनी के साथ अपनी दिग्विजय का डंका बजाता हुआ दिखाई देता है तो कभी मृगया और विनोद में रत। कभी सत्य की रक्षा के लिए प्राण त्यागता है तो कभी मर्यादा का पालन करने के लिए पतिव्रता पत्नी को। कभी भोगी, कभी वियोगी और कभी योगी के रूप में दिखाई देता है और कभी अतिभोग के कारण रोगी भी। जीवन एक अविरल रूप में बहता रहा है। भिन्न-भिन्न स्थितियों में उसके भिन्न-भिन्न रूप उभरे और निखरे हैं। व्यक्ति की अपेक्षा 'वंश' को आधिकारिक वस्तु के पद पर प्रतिष्ठापित करने से कालिदास को एक बहुत वड़ा लाभ यह हुआ है कि उसे इन विभिन्न नरेशों की कथाओं को प्रासंगिक वस्तु के रूप में उपस्थित करके मानव के स्वरूप को भिन्न--भिन्न रूपों एवं अवस्थाओं में चित्रित करने का अवसर मिल गया है। एक ही परम्परा में अनेक बहुमुखी चरित्रों को उपस्थित किया जा सका है तथा कथाप्रवाह को अविच्छिन्न तथा सुसम्वद्ध रखा जा सका है।

वस्तु-संयोजन पर कुछ आक्षेप और उनका निराकरण

कालिदास के कुछ आलोचकों को शिकायत है कि 'रघुवंश' के दसवे सर्ग से लेकर पन्द्रहवें सर्ग का कथानक वहुत शिथिल है। वस्तु संकलन की दृष्टि से भी और कलात्मकता की दृष्टि से भी। अथवा कुछ लोग कालिदास के 'रघुवंश' के नायक के रहस्य को न समझने के कारण महाकाव्य के इस भाग के लिए कह डालते हैं कि यह तो कवि ने महाकाव्य के अन्तर्गत एक और महाकाव्य की रचना कर डाली है। ऐसे असमीक्ष्यकारी आलोचकों से हमारा केवल इतना ही नम्र निवेदन है कि कि वे रघुवंश के इस भाग को सूर्यवंश के नायकत्व तथा वाल्मीकि रामायण के कथा के परिवेश में रखकर पढ़ें, शायद उन्हें इसमें दृढ़बन्धत्व एवं कलात्मकता के दर्शन हो जाएँ।

साथ में इतना और भी कि कालिदास को न तो वाल्मीकि द्वारा कथित रामकथा को दुहराना था और न इसके द्वारा किसी प्रकार महर्षि के गौरव को कम करना। उन्हें तो केवल सूर्यवंश के उन प्रतापी महामानवों के पावन कृत्यों को एक सम्बद्ध रूप में प्रस्तुत करना था जिन पर कि रामायण में भली-भाँति प्रकाश नहीं पड़ सका था। इसलिए उनके लिए रामकथा का उतना ही महत्त्व था जितने से कि रघुवंश की कथा की सुसम्बद्धता वनी रहे तथा उसके नायक 'रघुवंश' के जीवन के उस पक्ष पर विशेष प्रकाश पड़ सके जिस पर कि अन्यत्र प्रकाश नहीं पड़ सका है। इसलिए महाकवि ने ५०० सर्गों तथा

२४००० श्लोकों के महाकाव्य से तत्वों का बड़ी कुशलता से चयन किया है तथा उसे बड़ी मौलिकता एवं मार्मिकता के साथ प्रस्तुत कर दिया है केवल ६ सर्गों में। इसमें भी कालिदास ने अनेक रूपों में जिस मौलिकता का परिचय दिया है वह केवल कालिदास का रसज्ञ पाठक ही बतला सकता है। रामायण में सीताहरण के बाद से लेकर राम के लंका पहुँचने तक का मार्ग विवरण विस्तार के साथ दिया गया है पर कुशल कलाकार ने रघुवंश में उसे वहाँ न देकर पुष्पक द्वारा राम और सीता की वापसी के अवसर पर राम के मुख से अतीत की स्मृति के रूप में सीता से कहलवा दिया है (सर्ग १३)। इस परिवर्तन से कथानक में कितनी चुस्ती, संक्षिप्तता तथा मार्मिकता आ गयी है यह कोई पारखी ही पहचान सकता है। सीता–राम के इन सुखद क्षणों में अतीत के दुःखद क्षणों की स्मृति किस तरह रस का संचार करती है यह तो केवल अनुभव से ही जाना जा सकता है। यह स्थिति ठीक वैसी ही है जैसी कि भवभूति ने 'उत्तर-रामचरित' नाटक के प्रथम अंक में उद्भावित की है। यहाँ भी सीता–परित्याग (१४ सर्ग) के महाविस्फोट से पूर्व भवभूति के चित्रपट की भाँति राम और सीता के विगत प्रेममय दाम्पत्य जीवन की मधुरतम झाँकी प्रस्तुत की गयी है। असम्भव नहीं कि नाटककार भवभूति को चित्रपट की मौलिक कल्पना की प्रत्यक्ष प्रेरणा यहीं से मिली हो। क्योंकि अनेक अंशों में उभयत्र स्थिति, कल्पना एव अभिव्यक्ति में भी साम्य दृष्टिगोचर होता है। जो भी हो इस परिवर्तन में कालिदास के मौलिक चित्रण एवं अभिव्यञ्जना की छाप अवश्य है।

ऐसे ही १४वें १५वें सर्ग की सीता-परित्याग की कथा का चित्रण कालिदास ने जिस मार्मिक एवं सबल रूप में किया है वह समस्त संस्कृत-साहित्य तो क्या शायद विश्व साहित्य में अतुलनीय है ऐसा मैं मानता हूँ। चौदहवें सर्ग की सीता में जिस तेजस्विता एवं उदात्तता का अवतरण कालिदास ने कर दिखाया है[1] वह विश्व के नारी समाज के लिए महान् प्रेरणा एवं गौरव की वस्तु है। आज तक किसी साहित्य में किसी नारी के मुख से ऐसी ओजस्विनी वाग्धारा प्रवाहित हुई हो ऐसा स्मृति पथ में नहीं आता। कम से कम ऐसा आक्रोश

१- वाच्यस्त्वया मद्वचनात् स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम्।
मां लोकवाद श्रवणा दहासीः श्रुतस्य किं यत्सदृशं कुलस्य ॥
स हं तपः सूर्यनिविष्ट दृष्टि रूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितु यतिष्ये।
भूयो यथा मैं जनान्तरे ऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः ॥

(रघु, ४५६०६१/१)

व ऐसा जन्मान्तराकांक्षी पति-प्रेम तो संसार में एकत्र हो ही नहीं सकता। ऐसी ही ओजस्विता एवं तेजस्विता के दर्शन होते हैं पतिव्रत का प्रमाण देते समय (सर्ग १५/८१)। इसकी तुलना में आदिकवि का वर्णन बहुत पीछे छूट जाता है। इसके आगे का कथानक भी कवि की अपनी मौलिक देन है।

साथ ही यह भी ध्यान रखने की बात है कि वाल्मीकि के राम कथा-नायक हैं और उनकी कथा वहाँ आधिकारिक है पर यहाँ रघुवंश के परिवेश में उनकी कथा प्रासंगिक है। यहाँ प्रधान महत्त्व राम का नहीं 'रघुवंश' का है, वे उसके एक अंग मात्र हैं, यद्यपि प्रमुख अंग हैं। राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं, आदर्श हैं, पर जिस आदर्श वंश में उन्होंने जन्म लिया अथवा जिस महार्घ मुक्ताहार के वे मध्यमणि हैं उसका परिचय कराने का श्रेय कविकुलगुरु को ही है। इस वस्तु संयोजन में रामकथा को आनुपातिक रूप में जितना स्थान मिलना अपेक्षित था कालिदास ने उसे उतना ही दिया है। इस पर भी यदि आलोचक कालिदास को रघुवंश की वस्तु-संयोजना के लिए दोषी ठहराते रहें तो यही कहना पड़ेगा कि दुराग्रही एवं दोषदर्शी दृष्टि का दुनिया में न कभी इलाज हुआ और न हो सकेगा।

किसी भी दृष्टि से देखिए इसमें असम्बद्धता वा शिथिलता नाम की कोई चीज ही नहीं, यों इतने बड़े कथानक में सर्वत्र एक सी चुस्ती, मार्मिकता वा दृढ़ता रह भी नहीं सकती। यह तो कालिदास का ही कौशल था जोकि इतने विशाल कथानक को महाकाव्य परिपाटी में एक सूत्र में पिरोकर रख गया।[1] कोई अन्य कवि होता तो यह रघुवंश एक काव्य न होकर या तो पौराणिक वंशावलियों का परिशिष्ट होता या इतिहास की रसहीन शृंखला।

वस्तु-विकास की अवस्थाएँ

कालिदास ने एक महाकाव्य के कथानक की भाँति इसके कथानक को प्रारम्भ से अन्त तक वस्तु विकास की सभी अवस्थाओं से गुजारा है। कवि ने इसका प्रारम्भ ही 'रघुवंश' अथवा 'सूर्यवंश' के प्रवर्तक वैवस्वतमनु से किया है। वंश गतिमान् हो गया और अविरलगति से प्रवाहित हो ही रहा था कि अवरोध उत्पन्न हो गया दिलीप पर आकर। वंश की गति रुक गयी, पर इस वंश के सुख दुःख के शरण्य गुरु वशिष्ठ की कृपा से अवरोध दूर हो गया। फिर वंश उसी गति से आगे बढ़ चला जैसे सरिता का प्रवाह अवरुद्ध होने के बाद

१. अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः।
मणौवज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः॥ (रघु० १/४)

फिर अवरोध के हट जाने से तीव्रतर वेग से बह निकलता है। रघु के रूप में कथा का ऐसा विकास हुआ कि उसमें अप्रतिम तेज (इन्द्र-रघु युद्ध), अभूतपूर्व दिग्विजिगीषा तथा अलौकिक त्याग व अतिथि-सत्कार (सर्वस्वदक्षिणयाग तथा कौत्स की दक्षिणा) एकत्र प्रतिफलित हो उठा। इन सभी से वंश का ऐसा गौरव बढ़ा कि अब उसका संकेतबोध वैवस्वत, सूर्य वा ककुत्स्थ की अपेक्षा 'रघु' से होने लगा।

वस्तु-विकास का एक रूप रघु में पूर्ण हुआ तो दूसरा 'सर्वावयवानवद्य' अद्वितीय प्रणयी अज तथा आखेटी दशरथ में। अभी तक वस्तु का चतुरस्र विकास चल रहा है। श्रद्धा, भक्ति, दयालुता, स्नेह, सौन्दर्य, ओज, विनय, संचय, त्याग, आसक्ति, निर्लेप, भोग, योग, दान, अनुग्रह आदि सभी आदर्श मानवीय रूपों का विकास हो चुका है। विकास की चरमसीमा आ चुकी है, इससे अधिक विकास मानव में सम्भवत: सम्भव नहीं, अत: 'राम के अभिधान में स्वयं हरि' विष्णु भगवान् को वंशसूत्र को सम्भालना पड़ा। भगवान् ने अपने जन्म परिग्रह से वंश को पावन किया यह गौरव की बात थी, पर फिर भी रघु का यश और प्रताप तिरोहित न हो सका। 'रघुवंश' 'रामवंश' न बन सका। यही है वाल्मीकि और कालिदास के दृष्टिकोण का अन्तर। कालिदास मानता है कि मानव का अन्तिम लक्ष्य देवत्व है और उसमें उसकी पूर्णता भी होती है, पर उसके गौरव का आधार हो सकता है उसका अलौकिक मानवत्व ही।

वंश-विकास पूर्णता को पहुँच गया। ठीक है, पर महाकाव्य के वस्तुविधान के विधान के अन्तर्गत अब चरम विकास के बाद नियति के प्रदर्शन की अपेक्षा थी, अत: उसमें ह्रास का प्रारम्भ हुआ। रघुकुल का केन्द्रीभूत शक्तिपुञ्ज आठ भागों में विभक्त हो गया। पर कवि ने कथानायक के रूप में कुश के रूप में उसे बटोर लिया है और इस प्रकार कथानक को आगे बढ़ाने के लिये मार्ग बना लिया है। उतार बराबर गतिशील दिखाई दे रहा है। नीतिनिपुण अतिथि तक यह बराबर इसी रूप में चल रहा है। पर यहाँ से इसमें फिर नया रूप आने लगता है जोकि अन्त की ओर बढ़ता हुआ दिखाई देने लगता है और परम लम्पट अग्निवर्ण में जाकर पुन: विनाश वा गत्यवरोध के चिन्ह स्पष्ट होने लगते हैं। पर कुशल कलाकार ने गर्भवती रानी को अभिषिक्त करा करके कथा-नायक के लिए मार्ग खोल दिया है। इस प्रकार कवि ने बड़े कौशल से एक ओर कथानायक को भावी के गर्भ में बचा करके शास्त्रीय दृष्टि से काव्य को

दु:खान्त होने से बचा भी लिया है और दूसरी ओर वस्तु का अन्त करके भाव-दृष्टि से इस दु:खान्तता को व्यक्त भी कर दिया है।

वस्तु-विन्यास में चिन्त्य स्थल

वस्तुत: इतने विशाल पटल के काव्य को आद्योपान्त सुसम्बद्ध रूप में निभाना सरल कार्य नहीं था। फिर भी कालिदास ने जिस कौशल से सम्पूर्ण रघुवंश की योजना की उसका कुछ रूप हम देख ही चुके हैं। इसमें जो कुछ किया गया है वह केवल किसी अलौकिक प्रतिभाशाली कवि से ही सम्भव हो सकता था, इसीलिए सामान्य पाठक को इसकी वस्तु-योजना में कोई त्रुटि नहीं दिखाई दे सकती। पर कालिदास का गहन रूप से अवगाहन करने वाले मनीषियों को इसमें यत्र-तत्र कुछ ऐसे स्थल मिल जाते हैं जो कि वस्तु-विन्यास की दृष्टि से चिन्त्य कहे जा सकते हैं।[1] इनमें से कुछ स्थल प्रस्तुत हैं—

'रघुवंश' के द्वितीय सर्ग में कालिदास ने दिलीप-सिंह सम्वाद की बड़ी नाटकीय योजना की है किन्तु कवि ने इस अद्‌भुत कौतूहलपूर्ण नाटक के प्रारम्भ होने से पूर्व ही—**'अन्येद्युरात्मानुचरस्यभावं जिज्ञासमानामुनिहोमधेनुः'** × × × **गौरीगुरोर्गह्वरमाविवेश (२/२६)'** कहकर आगे आने वाले विस्मय का व्याघात कर दिया है। पहले ही पाठक को इस अद्‌भुत नाटक की निस्सारता का आभास हो जाता है। इसीलिए वाद में **'तं विस्मितं धेनुरुवाच साधो मायां मयोद्‌भाव्य परीक्षितोऽसि (२/६२)'** जैसी उक्ति का पाठक के लिए कोई महत्त्व ही नहीं रह जाता। राजा की परीक्षा की बात पहले ही न कहकर उसे यदि अन्त तक छिपाए रखा गया होता तो पाठक भी इस समय इतना ही विस्मित होता जितना कि स्वयं दिलीप। इसके लिए तो इतनी ही भूमिका पर्याप्त होती कि 'एक दिन मुनिहोमधेनुः गङ्गाप्रपात के शीकरों से हरित हिमवान् के गह्वर में गयी'। क्यों गयी ?-यह रहस्य यदि अन्त तक रहस्य ही बना रहता तो ठीक होता। नाटकीयता का पूरा आनन्द आ जाता।

ऐसे ही 'रघुवंश' के छठे सर्ग में भी स्वयंवर में आये हुए राजाओं की शृङ्गार चेष्टाओं का वर्णन करने के लिए पहले से ही—

> **तां प्रत्यभिव्यक्त मनोरथानां महीपतीनां प्रणयाग्रदूत्यः।**
> **प्रवालशोभा इव पादपानां शृङ्गार चेष्टा विविधा बभूवुः॥** ६/१२

—के द्वारा जो भूमिका बाँध दी है उससे उनकी आकस्मिकता का सौन्दर्य घट गया है। आकस्मिकता से होने वाले क्रिया-व्यापार का प्रारम्भ भी आकस्मिकता

1. द्रष्टव्य—कालिदास और उनका रघुवंश—रामप्रसाद सारस्वत, पृ० ६४–६३

से किया जाता तो अधिक स्वाभाविक होता।

ऐसे ही सप्तम सर्ग में भी अजदर्शनोत्सुक रमणियों के व्यापार की अस्त-व्यस्तता को यदि एकदम ही प्रारम्भ कर दिया गया होता तो वह अधिक स्वाभाविक लगता। पर पहले से ही—**बभूवुरित्थं पुरसुन्दरीणां त्यक्तान्य-कार्याणि विचेष्टितानि** (७/५) कहकर कवि ने हमें उस भागदौड़ के दृश्य के लिए पहले से ही तैयार कर दिया है।

इसी प्रकार 'रघुवंश' के दसवें सर्ग की भगवान् विष्णु की उक्ति कि 'मैं दशरथ के घर में जन्म लेकर अपने बाणों से रावण का शिरश्छेद करूँगा' (१०/४४) के बाद तो आगे आने वाली सभी घटनाओं का कौतूहल ही समाप्त हो जाता है। यहाँ पर कालिदास शायद अवतार परम्परा से प्रभावित हो गये हैं।

किसी चमत्कार की प्रभावकारिता बहुत कुछ इस बात पर निर्भर होती है कि वह अन्त तक रहस्य ही बना रहे। यदि इससे पूर्व ही वह झलक पड़े तो अन्त तक उसमें पर्याप्त ह्रास हो जाता है। राम जैसा सुकुमार बालक भगवान् शंकर के प्रचण्ड चाप का भंजन कर सकता है यह जनकपुर की जनता के लिए अकल्पनीय था। राजा जनक तो स्वयं ही विश्वामित्र जी से अपनी आशंका व्यक्त करते हुए कहते हैं—हे भगवन् ! जो कार्य बड़े-बड़े मतवाले हाथियों के लिये भी दुष्कर है उसे हाथी के बच्चे से करवाना तो खिलवाड़ ही होगा। इसलिए मेरा मन नहीं चाहता कि राम को इस कार्य के लिए कहा जाये (११/३९)। राम के अलौकिक कृत्य के चमत्कार के प्रदर्शन का प्रारम्भ ठीक ही हुआ था। पर कालिदास ने यहाँ पर ही विश्वामित्र के द्वारा राम की अलौकिक शक्ति का बखान करवाकर (११/४१) उस चमत्कार को समाप्त-प्राय कर दिया है। साथ ही जब विश्वामित्र के आप्त-वचनों से ही जनक ने उस काकपक्षधारी में धनुष को उठा सकने की शक्ति का विश्वास कर लिया (११/४२) तो फिर राम के द्वारा धनुष उठाने पर कम से कम उनके लिए तो **'विस्मयस्तिमितनेत्रमीक्षितः'** जैसी उक्तियों का कोई महत्त्व नहीं रह जाता है। विस्मय और चमत्कार रहा भी कहाँ ? पाठक तो पहले से ही इसके लिए तैयार हो चुका है।

ऐसे ही वस्तु-विन्यास की दृष्टि से दिलीप से लेकर कुश तक तो गुण-व्यापार का सुन्दर समन्वय चला है। पर अतिथि पर आते ही व्यापार समाप्त-प्राय हो जाता है। फलतः गुण-व्यापारविच्छेद से कथा में शिथिलता आ जाती

है। पाठक केवल गुणवर्णन से ऊबने लगता है और क्रिया-व्यापार का अभाव खटकने लगता है।

इसके अतिरिक्त यत्र-तत्र ऐसे स्थल भी दृष्टिगोचर हो जाते हैं जहाँकि वर्णन या प्रसंग में पूर्ण संगति नहीं बैठने पाती। 'रघुवंश' के चौथे सर्ग में कम्बोजों को जीतने के उपरान्त जब रघु पहाड़ी राज्यों को जीतने के लिए हिमवान् की ओर प्रस्थान करता है तो कालिदास लिखता है :

ततो गौरीगुरुं शैलमारुरोहाश्वसाधनः (४/७१)

अर्थात् कम्बोज विजय के बाद रघु हिमवान् को जीतने के लिए अपनी घुड़-सवार सेना को लेकर आगे बढ़ा। बात बिल्कुल संगत भी लगती है, क्योंकि एक तो पहाड़ पर गजसेना तथा रथसेना जा नहीं सकती, दूसरे अभी-अभी उसे कम्बोजों से भेंट में बहुत बढ़िया किस्म के घोड़े प्राप्त हुए हैं (४/७०)। काबुली घोड़ों से हिमालय पर चढ़ाई करना प्रसंग तथा वर्णन की दृष्टि से सर्वथा उचित है। पर आगे चलकर जब हम हिमालय में उसके हाथियों का वर्णन पढ़ते हैं (४/७४—७५,८१) तो प्रकरण में कुछ असंगति सी लगती है। लगता है कवि सेना और शौर्य के वर्णन के प्रवाह में स्थान और वर्णन की संगति की ओर से असावधान हो गया है।

ऐसे ही इसी प्रकरण में हिमवान् पर रघु के शौर्य और पराक्रम का वर्णन करते हुए वह कहता है—

तत्राक्षोभ्यं यशोराशिं निवेश्यावरुरोह सः।
पौलस्त्यतुलितस्याद्रेरादधान इव ह्रियम्॥ (४/८०)

'किन्नर प्रदेश पर अपनी अनश्वर यशोराशि को स्थापित करके वह हिम-वान् के इसी भाग से लौट आया। एक बार रावण के द्वारा जीत लिये जाने पर अब उसे जीतने को न जाकर मानो उसने कैलास को लज्जित सा कर दिया।'

यहाँ पर रघु से पूर्व ही हिमवान् को रावण के द्वारा भुजाओं पर उठाये जाने के संकेत में कालदोष स्पष्ट है। स्पष्ट है कि रावण राम का समकालीन था। अधिक से अधिक दशरथ का समकालीन हो सकता है। पर रघु से पूर्व तो उसे किसी प्रकार भी नहीं रखा जा सकता। अतः यहाँ पर रघु से भी पूर्व रावण के पराक्रम का उल्लेख कालक्रम की दृष्टि से चिन्त्य कहा जा सकता है।

(२)

रघुवंश का कलापक्ष

वस्तु-विन्यास की कलात्मक योजना

हमने देखा कि कालिदास ने बड़ी सूझ-बूझ के साथ वस्तु का संयोजन किया। किन्तु किसी कथानक का चयन ही काव्य की सफलता एवं महानता के लिए पर्याप्त नहीं होता। उसकी वास्तविक सफलता तो उसके कलात्मक विन्यास में होती है और इसी से हो पाती है उसकी प्राण-प्रतिष्ठा भी। किसी महान् कलाकृति की सामग्री उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं जितना कि उसका यथानुपात तथा यथास्थान विन्यास होता है। चित्रकार की तूलिका के छोटे-छोटे विन्दुओं से ही चित्र प्राणवान् हो उठता है।

किसी महाकाव्य की सफलता के लिए उसमें रस-भाव-रूप-व्यापार-वातावरण एवं चरित्र-चित्रण का सम्यक् एवं सुन्दर निरूपण आवश्यक माना गया है। हम प्रस्तुत महाकाव्य में रघुवंश के परिवेश को देखने का यत्न करेंगे कि महाकवि ने इन सबका निरूपण कब, कहाँ तथा किस रूप में किया है। उनसे काव्य के सौन्दर्य में क्या अभिवृद्धि हुई है तथा उसकी प्राण-प्रतिष्ठा में क्या योग मिला है।

भाव निरूपण

वस्तु-संकलन में हम देख चुके हैं कि कवि ने 'रघुवंश' के २७ नरेशों की एक विविध गुण-गण-मण्डित परम्परा को अपने काव्य के लिए चुना है। इनके जीवन एवं कृत्यों को एक रुचिकर काव्यात्मक रूप में प्रस्तुत करना कोई सरल कार्य नहीं था पर महाकवि का रचना कौशल ! कि उन्नीस सर्गों के इस महाकाव्य में प्रत्येक सर्ग एक नया भाव, नया आधार लेकर उपस्थित होता है। न कहीं पुनरावृत्ति है और न कहीं एकरूपता। उनके विभाजन में अपने

कौशल का ऐसा अद्भुत परिचय दिया है कि एक के बाद एक नया भाव आता गया है और प्रत्येक का अपना रूप और अपना महत्त्व है। चित्रपट की भाँति कथानक विविध भावों के साथ आगे बढ़ता जाता है और पाठक की रुचि का कहीं भी व्याघात नहीं होने पाता।

काव्य के प्रारम्भ में कवि 'सोहमाजन्मशुद्धानाम्...... रघूणामन्वयं वक्ष्ये' (१/५–९) के द्वारा हमारे मन में उन आदर्श मानवों के बारे में जानने की एक प्रबल उत्सुकता जगा देता है और इसी उत्सुकता के साथ हमारा परिचय कराता है सर्वप्रथम 'क्षत्रियत्व के साक्षात् अवतार' राजा दिलीप से जिसके रूप और गुणों के बारे में सुनकर (१/१२–३०) हमारी जिज्ञासा बढ़ चलती है और फिर कवि इसी समय हमारे निरन्तर बढ़ते हुए औत्सुक्य को नया मोड़ देने के लिए उसे सन्तानाभाव से चिन्तित दिखाकर सपत्नीक वशिष्टाश्रम की ओर प्रस्थान करवा डालता है। इस यात्रा में हमारा मन ग्राम्य-जीवन की मधुरता में खो जाता है। औत्सुक्य और विषाद जाता रहता है और एक अजीब सरलता का भाव हृदय पर छा जाता है। विशेषकर 'नवनीत की भेंट लेकर आये हुए बूढ़े ग्वालों से राजा और रानी का वहाँ के लतावृक्षों के बारे में पूछने' का भाव तो एकदम हृदय में प्रतिबिम्बित सा हो जाता है। इसी के साथ हम वशिष्ठ की तपोभूमि के शान्त एवं पवित्र वातावरण में जा पहुँचते हैं, जिसके बारे में सुनकर मन एक अजीब शान्ति का अनुभव करता है।

प्रथम सर्ग में तपोवन की जिस शान्ति की झलक मात्र मिली थी उसका जीवन्त रूप द्वितीय सर्ग के प्रारम्भ में ही उभर उठा, रानी के द्वारा गन्ध-माल्य आदि से नन्दिनी का पूजन हुआ, बछड़े को दूध पिलाया गया और फिर यशस्वी शासक दिलीप उसे लेकर छाया की भाँति उसका अनुसरण करते हुए वन-वन विचरने लगे (२/१–१६)। सायंकाल का दृश्य भी ऐसा हृदयस्पर्शी था (१७-२१)। पर मह कवि ने अनुपात का पूरा-पूरा ध्यान रखा। इससे पूर्व ही कि शान्ति का यह लबालब भरा कटोरा छलकने न लगे वह एकदम अप्रत्याशित रूप में कौतूहल वा विस्मय को रंगमंच पर उतार लाया है। दिलीप की भाँति हमें भी नन्दिनी का आर्तस्वर एकदम विस्मित कर डालता है। फिर तो वहाँ जो अद्भुत नाटक हुआ वह स्वयं में एक सफल नाटक का विषय है (२/२७–६९)। यहाँ भी कवि ने अनुपात का पूरा ध्यान रखा है। हमारा कौतूहलाविष्ट मन अभी पूरी तरह उस भाव से मुक्त नहीं हो पाया था कि

कवि हमें भोग-विलास से रहित दाम्पत्य के उस गोपनीय एवं मधुर भाव में विभोर कर डालता है जिसका अन्त वात्सल्य के अनिर्वचनीय आनन्द में होता है (३/२५-२६)। वात्सल्य का मधुरभाव अभी मन से पूरी तरह उतर नहीं पाया था कि देवराज इन्द्र को चुनौती देने वाला रघु का अप्रतिमशौर्य दमक उठा। हम फिर चमत्कृत होकर देव-मानव के उत्साह भरे घात-प्रतिघात को देखने में लीन हो गये। तीसरे सर्ग की समाप्ति के साथ-साथ ही निर्वेद का भाव छा गया है। महाराज दिलीप अपने तेजस्वी पुत्र रघु को वंश का भार सौंपकर सपत्नीक तपोवन को प्रस्थान कर गये हैं (३/७०)।

चौथा सर्ग आया नहीं कि फिर नये सिरे से उत्साह का दौर प्रारम्भ हो गया। विजय का डंका वजा और आसेतु-हिमालय रघु की विजय-वैजयन्ती फहराती चली गयी। विजय का नशा अभी उतरा नहीं था कि कवि ने हमें एकदम एक नये भाव जगत् में ला खड़ा किया, त्याग और आतिथ्य के अद्भुत रूप से चमत्कृत कर डाला और सर्ग का अन्त करते-करते वह हमें प्रभात-वर्णन के माधुर्य का रसास्वादन कराकर फिर छठे में स्वयम्वर तथा सप्तम सर्ग में विवाह के कौतुक मण्डपों के दर्शन कराकर आनन्द-विभोर कर डालता है। पिछले दो सर्गों में प्रमुख रूप से उल्लास का ही बोलवाला रहा अतः अव कवि ने उसे नया मोड़ देना चाहा। इसके लिए पहले तो प्रवृत्ति और निवृत्ति-परक दो भावों को काव्य में उपस्थित करके पाठकों को आने वाले कारुण्य के लिए तैयार किया और फिर वड़े प्रभावशाली रूप में उसे काव्यक्षेत्र में उतार दिया। प्रणयी अज के साथ हमारा हृदय भी भावाभिभूत होकर गद्गद हो उठा तथा इस रोने-धोने के वातावरण से आगे बढ़ना कठिन प्रतीत होने लगा, पर कवि ने अगले सर्ग में वड़े कौशल से दशरथ का वहुमुखी कार्यकलाप हमारे सामने उपस्थित कर दिया। मन करुणा से निकलकर फिर एक बार कुतूहली बन गया।

वह चित्र भी गया तथा सामने आया राम का वहुमुखी चित्र। भाव पर भाव वदलते चले गये—एक, दो, तीन सर्गों तक। रुचि में कुछ शिथिलता आने लगी तो एकदम लाकर रख दी तेरहवें सर्ग की भावों-भरी पिटारी। एक के वाद एक देखते जाइए। सीता-परित्याग में फिर मन विषाद से भर गया जोकि पन्द्रहवें सर्ग में अद्भुत में जाकर समाप्त हुआ। कुश भी एक नया स्वप्न लेकर हमारे सामने उपस्थित हुआ। इसके वाद जो विशेष उल्लेखनीय भावतत्त्व हैं वह हैं अतिथि की राजनीतिक चालें तथा अग्निवर्ण की विलास-क्रीडा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि ने आदि से अन्त तक भाव-प्रदर्शन का ऐसा सामञ्जस्य रखा है कि पाठक उन्हीं के वैचित्र्य में खोया रहता है और निरन्तर नवीनता का अनुभव करता जाता है। प्रत्येक दूसरे से प्रबल एवं नवीन रूप में उपस्थित होता गया है। न कहीं विरोध है और न असंगति ही। प्रत्येक प्रमुख पात्र का क्रियाकलाप एक नूतन भाव का प्रतीक है। दिलीप यदि हमे अपनी दयालुता एवं धार्मिकता के भाव से अभिभूत करता है तो रघु अपने शौर्य, दानशीलता एवं अतिथिसत्कार के भाव से। अज का प्रणयीत्व दशरथ की ओजस्विता, और मृगया-विनोद, राम की कार्यनिष्ठा, कुश का दान व मनोरंजन, सुदर्शन की लघुता एवं गुरुता, अतिथि की नीति-निपुणता और अग्निवर्ण की विलासिता सभी किसी न किसी मूल भाव का प्रतिनिधित्व करते हैं। पर महाकवि ने इन सबकी योजना इस ढंग से की है कि ये चित्रपट की भाँति हमारे सम्मुख आ आकर हमारे हृदय को रसात्मक भाव-भूमि पर ले जाकर खड़ा कर डालते हैं। न किसी की पुनरावृत्ति है और न किसी का अपूर्ण वा अस्पष्ट चित्रण। सभी स्वच्छ, पूर्ण एवं सबल हैं।

वातावरण की सृष्टि

काव्य जगत् में किसी भाव की प्रतिष्ठा तभी सम्भव होती है जबकि उसे उचित अवसर पर उचित वातावरण के साथ उपस्थापित किया गया हो। कोई भाव स्वयं में कितना ही महनीय होने पर भी काव्यात्मक अनुभूति का विषय अथवा प्रभावक तब तक नहीं हो सकता जब तक कि उसे अनुकूल वातावरण न मिले। अतः कलाकुशल कवि को भावसृष्टि के साथ तदनुकूल वातावरण के सृजन के लिए भी सचेष्ट रहना पड़ता है, तभी कोई भाव हृदय पर स्थायी प्रभाव डाल सकता है। अतः उसे भिन्न-भिन्न भावों के प्रदर्शन के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के वातावरण की सृष्टि करनी होती है। 'रघुकार' को इस विषय में भी पूर्ण सचेष्ट पाया गया है। उसने सम्पूर्ण काव्य को माघ, भारवि और श्रीहर्ष की भाँति एक सीमित वातावरण में ही बन्द नहीं रखा है। उसके भावों के साथ-साथ उसका वातावरण भी भारतीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र तथा भारतभूमि के प्रत्येक कोने में जा पहुँचता है।

रघुवंश में कालिदास ने यदि जीवन के सरल एवं मधुर भाव की व्यञ्जना करनी चाही तो हमें ले गये हैं नगरों के छल-कपट से भरे वातावरण से दूर ग्रामों एवं ग्रामीणों के बीच और जब शान्त भाव का अवसर आया तो वे हमें तपोवन के वातावरण में ले जाना भी नहीं भूले हैं। वे इस विषय में बड़े सतर्क

रहे हैं। नन्दिनी पर सिंह के आक्रमण को भयावह बनाने में हिमवान् की भयंकर कन्दराओं एवं सघन वनराजि का कितना योग है तथा इन्दुमती के स्वयंवर के अवसर पर उपस्थित राजाओं के चित्तों में चाञ्चल्य का भाव उभारने में स्वयंवर-मण्डप की साजसज्जा तथा दीपशिखा सी इन्दुमती का कितना योगदान हो सकता है इसे बतलाने की आवश्यकता नहीं। रघुवंश की रघुदिग्विजय केवल कागजी लिखा-पढ़ी नहीं। अपने पाठक के सम्मुख किसी नरेश को उपस्थित करने से पूर्व कालिदास उसे उस वातावरण में लेजाकर खड़ा कर देता है, तब प्रत्यक्षवत् उसका चित्र उसके हृदय में उतार देता है। देश-देश की सैर किये बिना हमारे मन पर न रघु की दिग्विजय का चित्र उभर सकता है और न वन-वन भटके बिना दशरथ के आखेट का दृश्य। इसी प्रकार राजसी वैभव की अमिट छाप अतिथि के दरबार के पहुँचे बिना तथा राजसी विलास के दर्शन अग्निवर्ण के रंगमहलों, विलासभवनों एवं क्रीडा-काननों की छाया में पहुँचे बिना नहीं हो सकते।

इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार के वातावरणों का सम्बन्ध एकाधिक नरेश के साथ रहा होगा। दिलीप–रघु–अज–दशरथ के राज में भी राजसी वातावरण का वह रूप रहा ही होगा जोकि अतिथि में पाया जाता है, ऐसे ही मधुर दाम्पत्य एवं विलास का सम्बन्ध भी अज तथा अग्निवर्ण के अतिरिक्त अन्य नरेशों से भी रहा ही होगा, किन्तु कवि विशेष वातावरण की योजना विशेष व्यक्ति के साथ विशेष स्थलों में ही करता है। व्यर्थ में उसकी अन्यत्र पुनरावृत्ति नहीं करता। जहाँ जिस पात्र के सहारे जिस विशेष भाव की उद्भावना की आवश्यकता होती है वहीं, केवल वहीं उसके अनुकूल वातावरण की सृष्टि करता है जिससे कि भाव विशेष के प्रभाव की गहनता बढ़ जाए और पाठक के हृदय पर उसकी अमिट छाप पड़ सके।

व्यापार व्यवस्था

'रघुवंश' जैसे राजवंश वर्णनमूलक महाकाव्य में बराबर काव्य-सौन्दर्य एवं भाव-सौन्दर्य को बनाए रखना कोई सरल कार्य नहीं था। कवि को एक ही राजवंश की अनेक पीढ़ियों के अनेक शासकों का इतिवृत्त प्रस्तुत करना था। उस राजवंश की अपनी कुछ विशेष खूबियाँ थीं। रघुवंश की भूमिका में ही कालिदास ने उनका परिगणन कर दिया था। उस वंश के प्रत्येक शासक में उनकी सत्ता थी, उन्हीं गुणों की नियत स्थिति ने ही तो कालिदास

को उस वंश का गुणगान करने के लिए प्रेरित किया था।[1] इसके अतिरिक्त शासन-व्यवस्था, धार्मिक कृत्य, गार्हस्थ्य, व्यक्तित्व, आहार-विहार भी तो सबका प्रायः समान ही रहा होगा। ऐसी स्थिति में यदि कवि उन सभी नरेशों की सभी वंशगत विशेषताओं एवं क्रियाकलापों का वर्णन करता जाता तो एक ऐतिहासिक लेखा-जोखा (Cronicle) बन जाता या एक काव्यात्मक कथासंग्रह।

पर, कालिदास ने विषय की इस कठिनाई को पहले ही समझ लिया था। अतः इस वंश के नरेशों की सामान्य विशेषताओं को भूमिका के रूप में पहले ही प्रस्तुत कर दिया (१/५-८)। और कुछ शासन-व्यवस्था से सम्बन्धित रहा सहा रूप था उसे प्रस्तुत कर दिया इसके तुरन्त बाद ही दिलीप की राज्य-व्यवस्था एवं प्रजापालन के प्रसंग में (१/१२-३०)। इस वर्णन को पढ़ लेने बाद हमारे मानस पर समस्त 'रघुवंश' के शासकों का शासकीय रूप स्थायी तौर पर अंकित हो जाता है। बिना कहे ही हम प्रत्येक शासक के विषय में उन सभी की सत्ता मान लेते हैं। कवि ने काव्य के प्रारम्भ में ही इनकी परिगणना करके इनकी पुनरावृत्ति की समस्या को बड़े सुन्दर एवं प्रभावकारी ढंग से यहीं सुलझा लिया है। पाठक के मन पर 'रघुवंश' की गौरव गरिमा की धाक ऐसी बैठ जाती है कि वह अन्त तक भी कम नहीं होने पाती। इसी का प्रभाव कहिए कि अग्निवर्ण जैसा विलासी और निकम्मा शासक भी निर्विघ्न राजसत्ता का भोग करता है और उसके बाद उसकी गर्भवती रानी भी इतने बड़े साम्राज्य की बागडोर सँभाल सकती है।

पर इतने से ही समस्या का समाधान नहीं हो सकता था। एक समस्या का समाधान हुआ तो दूसरी सामने खड़ी हो गयी। इस भूमिका से पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं रही। ठीक है, पर इससे महाकाव्य का निबन्धन कैसे होगा? जब सभी एक जैसे हैं, सभी में एक ही प्रकार की विशेषताएँ है तो फिर कथावस्तु आगे कैसे बढ़ेगी? कालिदास ने भी इस कठिनाई को समझा कि न तो उन्हीं गुणों का बार-बार बखान करने से महाकाव्य की रचना होगी और न उनका एकत्र बखान कर देने से। अतः उसने बड़े कौशल के साथ इस प्रकार कार्य का विभाजन किया कि न तो भारतीय आदर्श जीवन का कोई अंश छूटने पाए और न किसी की अनावश्यक पुनरावृत्ति ही हो। प्रत्येक नरेश के जीवन एवं क्रियाकलाप को किसी विशेष आदर्श रूप के साथ सम्बद्ध कर

---

१ तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः॥ रघु०

दिया। सामान्यतया उसमें जीवन के सभी सामान्य रूपों के रहते हुए भी उसमें एक दो ऐसे रूपों का निवन्धन कर दिया जोकि उसमें अपेक्षाकृत अधिक प्रमुख रूप में प्रकट होते हैं। अतः 'रघुवंश' का प्रत्येक पात्र जीवन और आदर्श के किसी न किसी रूप का प्रतिनिधित्व करता है। और कुशल कलाकार ने व्यापारविभाजन का कार्य इस तरतीव से किया है कि एक के बाद दूसरा एक स्वाभाविक विकासक्रम सा दीखने लगता है। प्रत्येक नया आने वाला व्यापार इतने सशक्त एवं विम्वग्राही रूप में प्रस्तुत किया गया है कि उतनी देर के लिए पाठक के लिए पिछले कथानक पर पर्दा सा पड़ जाता है और वह आत्मविस्मृत सा होकर उसी में रम जाता है। इस प्रकार व्यापारवैचित्र्य की योजना करके महाकवि ने सम्पूर्ण महाकाव्य को इतना सुसम्वद्ध एवं सरस वना दिया है कि यह सव कुछ एक कथानायक की जीवनी सा लगने लगता है; वस्तुतः है भी ऐसी ही वात। कवि ने जानबूझकर ऐसा किया है जिससे कि 'रघुवंश' का कथानायकत्व भली-भाँति स्पष्ट हो जाये और ये विभिन्न क्रिया-व्यापार उस नायक के दीर्घ जीवन के क्रिया-व्यापारों का तथा जीवन के उतार-चढ़ाव एवं आदर्शों का भली-भाँति निरूपण कर सकें।

'रघुवंश' के व्यापार-विभाजन की कुछ झाँकी तो देखिए—महाप्रतापी दिलीप सन्तान की चिन्ता एवं गोभक्ति से प्रेरित होकर नन्दिनी के पीछे वन-वन फिरता है तो उसका बेटा रघु शौर्य का प्रतीक वनकर कभी संग्राम के लिए देवेन्द्र को ललकारता है तो कभी देश-देश में अपनी विजय-दुन्दुभी वजाता फिरता है और कभी सम्पत्ति और संसार से निःस्पृह होकर अलौकिक दान और वैराग्य का परिचय देता है। उसका बेटा अज यदि अपने अलौकिक सौन्दर्य से रूपसी इन्दुमती को मोहित कर वड़े-वड़े नरेशों का मानमर्दन करता है और अपनी प्रेमिका के लिए प्राण देकर विश्व के लिए प्रणय का अमर संदेश देता है तो उसका बेटा दशरथ अहेरी वनकर अपने धनुष की टंकार से केहरियों के कानों के पर्दों को फाड़ता हुआ जंगल आखेट करता फिरता है।

राम की पीढ़ी में आकर कवि को फिर इस समस्या को सुलझाना पड़ा। एक ओर इस आदर्श पुरुष में भारतीय जीवन की पूर्णता दिखानी थी और दूसरी ओर जो कुछ पीछे कहा जा चुका है उसकी पुनरावृत्ति को बचाना था। महाकवि ने वड़े कौशल से राम के जीवन की अनेक विशिष्ट घटनाओं की ओर संकेत करके उनके शौर्य, सौन्दर्य, शक्ति, साहस, श्रद्धा, भक्ति, त्याग,

अनुराग आदि सभी क्रिया-व्यापारोंको दिखा भी दिया है और साथ ही क्रिया-व्यापारों की पुनरावृत्ति का आभास भी नहीं होने दिया है। साथ ही विश्व-वन्दनीय श्रीराम के चरित्र में काँट-छाँट करने अथवा उसमें परिवर्तन करने के लिए कवि को विशेष अवसर भी नहीं था। काव्य की सुसम्बद्धता बनाए रखने के लिए जो कुछ अत्यन्त आवश्यक था उसे करने में वह चूका भी नहीं है। रघुवंश का तेरहवां सर्ग इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

राम के बाद कवि के सामने फिर व्यापार के चुनाव की पूरी छूट थी अतः उसने इससे लाभ उठाया। कुश के जीवन में प्रमुख रूप से जल-विहार की रंगरेलियाँ छायी हुई हैं तो अतिथि राजनीति की जटिल पहेलियों को सुलझाने में व्यस्त दिखाई देता है। इसके बाद हम देखते हैं कि महाकाव्य का कलेवर बढ़ता जा रहा है। कवि जो कुछ कहना चाहता था प्रायः कह चुका है। अब तो एक अन्तिम सन्देश देना ही बाकी है अतः जीवन की छुट-पुट १६ झाकियाँ दिखाता हुआ कवि हमें सुदर्शन पर ले जाता है। यहाँ आकर रघुवंश के प्रताप एवं भारतीय राजभक्ति का अद्भुत रूप दिखाई देता है। बालक सुदर्शन विशाल साम्राज्य का अधिनायक बनता है और सूर्यवंश के प्रताप एवं परम्पराओं को यथावत् आगे बढ़ाता है। इस प्रसंग में कार्य व्यापार का मुख्य केन्द्र सुदर्शन का प्रताप वा राज्य व्यवस्था न होकर उसके राज्याभिषेक का वैभवपूर्ण चित्रण है। राजदरबार का सौन्दर्य ही मन पर चकाचौंध पैदा कर डालता है। और अन्त में आता है उसका परम विलासी पुत्र अग्निवर्ण। यहाँ के कार्य-व्यापार का मुख्य केन्द्र है—संगीत, नृत्य, पानभूमि, क्रीडा-सरोवर, और प्रमदवन। विलास और रंगरेलियों का ऐसा व्यापार इससे पूर्व कहीं देखने को नहीं मिला। इसमें भी तेज और शौर्य था, उसकी भी राज्य-व्यवस्था मनुप्रणीत मार्ग से ही होती होगी, पर कवि ने उसके इसी विनाशक कार्य-व्यापार को अपने काव्य का प्रमुख विषय बनाया।

इस प्रकार हम देखते हैं कालिदास ने ऐसा व्यवस्थित कार्य-विभाजन किया कि सम्पूर्ण महाकाव्य में न कहीं रुचि का व्याघात होता है और न ही पिष्टपेषण ही। कार्य-व्यापार की भागीरथी विभिन्न तीर्थस्थलों में होकर निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। प्रत्येक स्थान का अपना सौन्दर्य है और अपना महत्त्व है। कवि तपोवन से प्रारम्भ करके प्रमदवन में ले जाकर उसकी पूर्णाहुति कर डालता है।

रस निरूपण

रस ही काव्य की आतमा है इस पर लगभग उत्तरवर्ती युग के सभी भारतीय आचार्य एकमत हैं। उसकी परिभाषा चाहे उन्होंने जिन शब्दों में भी की हो, कालिदास का तो पुण्यस्मरण रससिद्ध कवीश्वर के ही रूप में किया जाता है। वस्तुत: काव्य में भाव, वातावरण, रूप आदि का निरूपण भी रस को ही दृष्टि में रखकर किया जाता है। और उनका महत्त्व भी रसपरक होने में ही होता है। रस से हीन काव्य की स्थिति आतमा वा प्राणों से हीन शरीर की सी होती हैं। अत: काव्य-शास्त्र की दृष्टि में काव्य का मूल्यांकन प्रमुखतया रस को ही दृष्टि में रखकर किया जाता है। किन्तु किसी महाकाव्य में रस-व्यवस्था को सम्यक् रूप से निभा लेना सरल नहीं, अर्थात् इसमें कवि को न केवल रस-सिद्धि का ध्यान रखना होता है अपितु उनकी व्यवस्था में उनके पारस्परिक आनुकूल्य एवं विरोध का भी ध्यान रखना पड़ता है। यह एक ऐसा कार्य है जिसके लिए कवि को कार्य-व्यापार पर भी ध्यान रखना पड़ता है।

अन्य भारतीय महाकवियों के समान ही रघुवंश की गाथा के साथ-साथ कालिदास का भी मुख्य उद्देश्य रस-निरूपण ही हो सकता है। इसके विना तो यह सब कुछ ऐतिहासिक लेखा-जोखा मात्र रह जाता। इस रस की सम्यक् सिद्धि के लिए पहले कवि को कथावस्तु में भाव, व्यापार आदि का एक योजना के अनुसार विभाजन करना पड़ा, फिर उसके लिए उचित वातावरण एवं रूप-सज्जा की योजना करनी पड़ी तब कहीं रस की सिद्धि तथा उसका व्यवस्थित रूप बन सका।

इस योजना में कालिदास ने कितनी सूझ-बूझ तथा कितनी कला-कुशलता का परिचय दिया है यह तो कोई साहित्य-मर्मज्ञ ही वता सकता है। मोटे तौर पर यही समझ लीजिए कि उसने इस महाकाव्य में सभी रसों के लिए अवकाश रखते हुए भी उनके अनुपात का वराबर ध्यान रखा है। कालिदास को आम धारणा के अनुसार श्रृङ्गार का कवि समझा जाता है और शायद वह है भी कविता-कामिनी का विलास, किन्तु रघुवंश में उसने इसे भी इतना संयत एवं सीमित रखा है कि न कहीं इसकी अतिशयता है और न कहीं अमर्यादित रूप ही। काव्य के अन्त में जो इसकी अतिशयता पायी भी जाती है वह श्रृङ्गार-निरूपण के उद्देश्य से नहीं, किसी और ही उद्देश्य से की गयी प्रतीत होती है।

अस्तु; कहने का अभिप्राय यह है कि रघुवंश में कवि ने श्रृङ्गार, करुण,

वीर, रौद्र, वीभत्स, अद्भुत आदि की योजना की है किन्तु इनमें से किसी के भी वातावरण में वह अपने पाठक को इतनी देर तक नहीं रहने देता कि वह उस आस्वाद से उकताने लगे अथवा उससे उसके मन में कोई वितृष्णा उत्पन्न होने लगे। और न ऐसा ही करता है कि एक विशेष रस के वातावरण में डूबे हुए पाठक को तुरन्त ही उससे एकदम विरोधी वातावरण में लाकर खड़ा कर दे और इस प्रकार उसके सारे स्वाद को बेस्वादा कर दे। यदि कहीं ऐसी स्थिति आती भी हो तो कवि बड़े कौशल से उन दो विरोधी रसों के बीच एक ऐसे रस की योजना कर डालता है जिससे कि दोनों के आस्वादन में कोई कठिनाई नहीं रह जाती।

कालिदास के प्रमुख रस शृङ्गार और करुण के विषय में हमने पृथक् रूप से विस्तार के साथ विवेचन किया है, जिज्ञासु पाठक वहीं उनके विविध रूपों को देख सकते हैं। यहाँ तो हम केवल उनके रस-विभाजन की वैज्ञानिकता का संकेत भर करेंगे। कवि ने दिलीप के जीवन में करुण—शृङ्गार एवं शान्त की त्रिवेणी दिखाई है पर साथ ही बीच-बीच में अद्भुत एवं वीर को लाकर इनमें मनोरम संतुलन ला दिया है। तपोवन के शान्त वातावरण के बीच सन्तान की चिन्ता से चिन्तित नृप-दम्पती का रूप हम प्रथम सर्ग तथा द्वितीय सर्ग के प्रारम्भ में देख ही चुके थे।[1] अब इसे अधिक लम्बा करने में रुचि-व्याघात एवं रसभंग का भय था। अतः कवि ने तृतीय सर्ग के मधुर शृङ्गार एवं उसके सहयोगी वात्सल्य को लाने से पूर्व उनका सामञ्जस्य बनाए रखने के लिए द्वितीय सर्ग के मध्य में ही एकदम अद्भुत की योजना कर दी। अचानक सिंह का प्रादुर्भाव, दिलीप की गतिहीनता, सिंह की मानुषीवाक् और फिर एकदम ही उसका तिरोधान यह सब कुछ हमें थोड़ी देर के लिए विस्मय में डाल देता है। हमारे सामने से शान्त और करुणा का वातावरण हट जाता है। सिंह—दिलीप-संवाद में दिलीप का एक नया ही रूप हमारे मानस पर उभर आता है जोकि उसके उस रूप से सर्वथा भिन्न है जोकि 'पिण्डविच्छेद की क्रिया' की चिन्ता से सूखा एवं मुरझाया हुआ था। नन्दिनी की प्रसन्नता के बाद तो हम पहले से ही तृतीय अंक के निगूढ

---

१ किन्तु वध्वां तवैतस्यामदृष्टसदृशप्रजम् । न मामवति सद्वीपा रत्नसूरपि मेदिनी ॥

× × ×

तयाहीनं विधातर्मा कथं पश्यन्न दूयसे। सिक्तं स्वमिव स्नेहाद्वन्ध्यमाश्रमवृक्षकम् ॥

(रघु० १/६६—७०॥)

शृङ्गार एवं ललित-वात्सल्य के लिए तैयार रहते हैं। इसके बाद कवि को दिलीप के जीवन में पुनः शान्त का निरूपण करना था, अतः कवि ने बीच में ही रघु–इन्द्र के युद्ध की योजना करके इस विरोध का परिहार कर दिया। अब देखिए, यदि कालिदास एक-एक नरेश के जीवन को सम्पूर्ण रूप से अलग-अलग लेता और वस्तु-विन्यास में आगे-पीछे का कार्य-विभाजन तथा क्रम-विन्यास की व्यवस्था अपनी मौलिक प्रतिभा के बल पर न करता तो क्या कथानक इस परस्पर संश्लिष्ट किन्तु रसानुकूल रूप में स्थिर रह पाता ?

क्योंकि रघु को कवि ने शौर्य के प्रतीक के रूप में उपस्थित करना चाहा है, जैसे दिलीप साक्षात् क्षात्रधर्म का अवतार है वैसे ही रघु भी साक्षात् वीर-धर्म का अवतार है, अतः उसके प्रथम शौर्य एवं द्वितीय शौर्य के चमत्कार के बीच कवि ने थोड़ा सा समय विश्राम एवं परिवर्तन के लिए निकाल लिया है। दो सर्गों तक लगातार वीररस का आस्वादन कठिन हो जाता तथा उन दो घटनाओं में रघु के शौर्य का जो उभयविध रूप उभरा है वह भी स्पष्टतया व्यक्त न हो पाता, एक दूसरे में घुल-मिल सा जाता। अतः यह रसान्तर सामने आया है। और इस युद्ध वीर के शान्त होने के बाद ही उसकी दान-वीरता का दूसरा रूप हमारे सम्मुख आता है। कोई विरोध नहीं, असामञ्जस्य नहीं। हम उसकी युद्धवीरता को देखकर जितने चमत्कृत हुए थे उससे अधिक चकित हो जाते हैं उनके सर्वस्वदक्षिणयाग एवं कौत्स की दक्षिणा के रूप को देखकर। यहाँ भी कवि ने बीच में ही उसकी विजययात्रा की तैयारी के साथ ही उसके कोष में सुवर्णमुद्राओं की वर्षा करवाकर इसके बीचमें अद्भुत का रसा-स्वादन कराने का यत्न किया है।

इसके बाद आता है 'रघुवंश' की कथा के एक अन्य प्रमुख पात्र अज का स्थान। इसके जीवन का एक छोर शृङ्गार है तो दूसरा छोर करुण। किन्तु इन दोनों का एक साथ चित्रण रसास्वाद की दृष्टि से अनुकूल नहीं; अतः कवि ने इन दोनों के बीच, अज तथा अन्य राजाओं के बीच होने वाले युद्ध की योजना करके वीर का निरूपण कर डाला और फिर आगे आने वाले करुण के तीव्र आघात को सहने के लिए ही मानो इससे ठीक पूर्व निर्वेद अथवा शान्त की योजना कर डाली (८/१४–२७) और फिर इसके पुत्र दशरथ को रंगमंच पर लाने से पूर्व वसिष्ठ के सन्देश के रूप में उसी निर्वेद की छाया में पाठक को लाकर रख दिया। ऐसा लगता है कि प्रेमी अज की वियोग-व्यथा अथवा करुणाक्रन्दन से कवि भी द्रवित हो उठा है। अज जैसे धीर-वीर

व्यक्ति को भी विचलित कर देने वाली करुणा वास्तव में करुणा है। कवि स्वयं मानता है कि इस तपन में लोहा भी पिघल उठा है।[1] वह इसकी तीव्रता को भली-भाँति महसूस कर रहा है और जानता है कि करुणा के इस भयंकर प्रहार की तीव्रता को कुछ कम कर सकने की शक्ति यदि किसी में है तो वह केवल शान्त में है। इसीलिए वह इस आघात को सह्य बनाने की दृष्टि से विशेष रूप से इससे पूर्व तथा पश्चात् इस निर्वेद की सृष्टि करता है। अन्यथा क्रौञ्च पक्षी के जोड़े के समान आनन्द में लीन इस अनन्य प्रेमी-युग्म में से सहसा एक का ऐसा अप्रत्याशित विनाश देखकर अवश्य ही किसी वाल्मीकि का हृदय विधाता को ही श्राप देने के लिए उमड़ पड़ता। शायद स्वयं कालिदास भी इस भाव को नहीं दबा पाये हैं और उसे प्रकारान्तर से अज-विलाप में व्यक्त भी कर दिया है।[2] पर उसके प्रभाव को इस दोनों ओर के निर्वेद ने कम कर दिया है। ठीक ही हुआ आगे दशरथ के लिए मार्ग प्रशस्त हो गया। महाकवि को दशरथ के वीर-भाव को सामने लाने तथा इसके द्वारा काफी देर से करुणा और निर्वेद में डूबे हुए पाठक को फिर से जीवन के प्रति अनुरागी बनाने में योग मिल गया।

राम क्योंकि इस मुक्तामाल के मध्य मणि है अतः उनमें शृङ्गार, वीर और करुण का विभिन्न रूपों में चित्रण हुआ है। किन्तु उनकी व्यवस्था में कवि ने यहाँ भी शास्त्रीय वा वैज्ञानिक विधान ही अपनाया है। प्रारम्भ में ताड़कादि-वध एवं धनुर्भङ्ग में जिस शौर्य का प्रदर्शन हुआ था, उसे परशुराम के भयानक से अन्तर्हित कर दिया। पुनः न घर में और न वन में ही राम को शृङ्गार का कोई अवसर दिया। कवि उनके युद्धवीर के रूप को विकसित करने में लग जाता है और लंकायुद्ध में उसे पूर्णता को प्राप्त करा देता है। किन्तु शृङ्गार के विना राम की पूर्णता कैसी ? अतः उसकी योजना होती है लंका से लौटते समय विमान-यात्रा के प्रसंग में। कितना कौशल दिखलाया है यहाँ इस महान् कलाकार ने ? किस नाटकीय ढंग से प्रस्तुत किया है विगत जीवन की घटनाओं को उत्तरकाल में ? इसका दिखाना आवश्यक था। इसके विना जीवन की पूर्णता न हो पाती; किन्तु इसे बीच में दिखाने का अभिप्राय होता रस का व्याघात। राम के प्रति वीरता के भाव की स्थापना उनकी

---

१. विललाप स वाष्पगद्गदं सहजामप्यपहायधीरताम्।
अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथाशरीरिणाम्॥ (रघु० ८/४३),

२. रघु० ८/४४—४७.

कौमारावस्था से ही की जा चुकी है; अब उसे निरन्तर आगे बढ़ाकर रस की पूर्णता को ले जाना था। बीच में शृङ्गार के आ जाने से रस का व्याघात हो जाता। पर वाह रे कुशल कलाकार ! तूने दोनों रसों का चित्रण भी कर दिया और रस का व्याघात भी नहीं होने दिया। इसके आगे तो सीता वनवास के साथ फिर करुणा आ ही जानी थी अतः वीर और करुणा के बीच में शृङ्गार को रख देने से रस-विरोध भी टल गया। एक साथ ही तीन लक्ष्यों की सिद्धि हुई।

सीता की करुणगाथा के बाद फिर कुश की जलक्रीडा का प्रसंग आना था अतः कवि ने अपने पाठकों को इस जल-विहार का पूरा आनन्द देने के लिए इस बीच में सीता के पाताल प्रवेश, तथा कुश के स्वप्न के द्वारा अद्भुत की तीव्र झलक दिखाकर करुणा की काली छाया को इस कौंध से दूर करने का सफल प्रयास किया है। सीता को असहाय एवं दीनदशा में छोड़कर हम भावनात्मक दृष्टि से उसके पुत्र कुश के विनोद में सम्मिलित नहीं हो सकते थे। यदि कोई कवि ऐसा करता तो वह अपने पाठक की भावनाओं के साथ खिलवाड़ करता। पर मानव-हृदय के पारखी कवि से ऐसी आशा कैसे की जा सकती थी। अतः कुश की शृङ्गार-सरसी में गोते लगवाने से पूर्व उसने अपने पाठक को पहले ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तैयार कर लिया।

इसके आगे की कहानी में राजनीति एवं शासन-व्यवस्था की बातों एवं युद्ध आदि का ही अधिक वर्णन है। साथ ही अनेक नरेशों के चरित्र पर भी न्यूनाधिक प्रकाश डालने का कार्य हुआ है जिससे कि किसी विशेष रस का न विकास होने पाया है और न पुष्टि ही। 'रघुवंश' के पिछले सोलह सर्गों में विविध रसों का आस्वाद लेने वाला रसिक पाठक अब इन राजनीतिक दाँव-पेचों तथा राजकीय जुलूसों में रस नहीं ले पा रहा है। वह इन दो सर्गों में ही ऊबने लगता है। जरा सोचिए, कि जब पाठक को विशिष्ट रसहीन दो सर्ग ही (यद्यपि इनमें भी काव्य-सौष्ठव की कमी नहीं) भारी पड़ने लगे तो क्या वह केवल वंशावलियों एवं तथ्यों पर आधारित इतने बड़े महाकाव्य को पढ़ पाता ? यह तो कालिदास का रस-विधान कौशल ही है कि पाठक इतने बड़े महाकाव्य को बार-बार पढ़कर भी कभी अघाता नहीं, नित नवीन आनन्द की ही अनुभूति करता है।

अस्तु, इन दो सर्गों से उकताए हुए पाठकों को फिर से तरोताजा करने के लिए कालिदास उन्हें फिर अग्निवर्ण की रसीली महफिलों में ले जाता है।

उसे शृङ्गार का खुला रूप दिखाया है ताकि उसे फिर आगे कुछ भी देखने की लालसा न रह जाये। साथ ही यह भी बता देना चाहता है कि यह शृङ्गार नहीं विनाश का द्वार है। अधकचरे लोग जिसे शृङ्गार कहकर अपने पाठकों की भावनाओं से खिलवाड़ करके उन्हें विनाशमार्ग की अनुगामिनी बना देते हैं, उन्हें सचेत करने के लिए ही मानों कवि ने इतने नग्न रूप में यहाँ शृङ्गार का चित्रण किया है और साथ ही दिखा दिया है उसका अत्यन्त कारुणिक अन्त भी। शृङ्गार की भी एक सीमा है मर्यादा है, उसके अन्तर्गत ही वह मानव और समाज के लिए श्रेयस्कर हो सकता है। अन्यथा वह स्वयं भी नष्ट हो जायेगा और अपने आश्रय का भी नाश कर डालेगा। शृङ्गार दिलीप में भी था, अज में भी, दशरथ में भी, राम में भी और कुश में भी। पर वह सीमित और मर्यादित था, कवि ने उसका वर्णन भी उसी रूप में किया। अतः वह सदा ही देश, जाति और वंश का कल्याण करने वाला सिद्ध हुआ। यह है संक्षेप में कालिदास का रस-निरूपण का सिद्धान्त व स्वरूप। वह रससिद्ध कवीश्वर है अतः जहाँ जिस रस को उपस्थित करता है वहाँ उसका सम्यक् परिपाक भी कर डालता है।

रूप-योजना अथवा छन्द-विधान

'रघुवंश' की रूप योजना के विषय में हम यहाँ पर मुख्यतया कालिदास के छन्दो-विधान पर ही प्रकाश डालेंगे। छन्द भारतीय काव्य-रचना का एक बहुत प्राचीन अङ्ग है। उसका हमारे मनोभावों के साथ बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। परिष्कृत काव्य-जगत् में ही नहीं, परिष्कृत सभ्यता और संस्कृति से दूर रहने वाली वन्य जातियों में भी इसकी सत्ता पाई जाती है। उनके गीतों की लय भी भावानुसारी होती है। जिस प्रकार रस—भाव आदि की व्यञ्जना में विभिन्न प्रकार के वर्णों का स्थान है वैसे ही काव्यात्मभूत रस की व्यञ्जना में भिन्न-भिन्न छन्दों का स्थान होता है। वस्तुतः संगीत का भावव्यञ्जना में बहुत बड़ा योग होता है। भारतीय काव्यशास्त्र के प्रणेताओं ने विभिन्न प्रकार के रसों की सिद्धि के लिए जैसे विशेष प्रकार की शब्दयोजना का विधान किया है वैसे ही भिन्न-भिन्न रसों की सफल अभिव्यक्ति के लिए विभिन्न प्रकार के छन्दों की योजना का भी विधान किया है। यह विधान केवल शास्त्रीय नहीं वरन सामान्य अनुभव पर आधारित है। विशेष विशेष मनोवेगों के योग में हमारी मनःस्थिति में विशेष प्रकार का अन्तर आ जाता है। जब हम उसे व्यक्त करना चाहते हैं तो उसका रूप हमारी वाणी पर भी उतर आता है।

वह कभी रुक-रुक कर निकली है तो कभी तरल प्रवाह के साथ। कभी मन्द-मन्द गति होती है तो कभी उछलती-कूदती सी। उसके द्वारा ही हमारे मन के हर्ष, विषाद, शान्ति, उद्वेग आदि का पता चल जाता है। इसीलिए आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सुवृत्ततिलक' मे लिखा —

काव्ये रसानुसारेण वर्णनानुगुणेन च।
कुर्वीत सर्ववृत्तानां विनियोगं विभागवित् ॥

अर्थात् कवि को चाहिए कि वर्ण्य विषय तथा रस के अनुरूप ही छन्दों की योजना करे। क्षेमेन्द्र ने अपने इसी ग्रन्थ में इस विधान का विस्तार के साथ निरूपण किया है। उस सबको यहाँ देने की आवश्यकता नहीं। बस यही समझ लीजिए कि जैसे महाकाव्य का लक्षण निर्धारित करते समय 'रघुवंश' आचार्यों के लिए आदर्श रूप रहा होगा वैसे ही छन्दोयोजना के विषय में भी लगता है कि कालिदास क्षेमेन्द्र के सम्मुख अवश्य ही रहा होगा।

क्षेमेन्द्र ने महाकाव्य में समुचित छन्दोयोजना को मणिकाञ्चन-संयोग कह कर निर्देशित किया है। वह कहता है: ·

सुवर्णार्हप्रबन्धेषु यथास्थाननिवेशिनाम्।
रत्नानामपि वृत्तानां भवत्यभ्यधिकारुचिः॥

भारतीय काव्यशास्त्र में दोषों के अन्तर्गत 'हतवृत्तत्व' नाम काव्यदोष का परिगणन किया गया है। इसकी व्याख्या में बताया गया है कि यह दोष वहाँ हो जाता है जहाँ कि कवि रस के स्वभाव के प्रतिकूल छन्द की योजना करता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ कवि की सफलता का मूल्यांकन उसके द्वारा की गयी वस्तु-विभाजन के अन्य अङ्गों पर निर्भर होता है वहाँ वह उसके छन्द-विधान पर भी निर्भर होता है।

दूसरी बात यह है कि महाकाव्य का आकार इतना विस्तृत होता है कि उसमें आद्योपान्त एक ही छन्द की योजना सम्भव भी नहीं हो सकती। उसके अन्तर्गत विभिन्न भावों की स्थिति के अतिरिक्त यह भी तो सम्भव नहीं कि हम अधिक देर तक एक ही प्रकार की संगीत-माधुरी का आस्वादन कर सकें। थोड़ी देर के बाद हमारा मन उसकी एकरसता से उकता जाता है और हमारे कान उससे भिन्न स्वरविन्यास को सुनने के लिए उत्सुक हो उठते हैं। मानव स्वभाव जो ऐसा ठहरा। पर महाकाव्य के विधान में केवल रुचिपरिवर्तन के लिए ऐसा नहीं किया जा सकता। वहाँ उसके अपने नियम होते हैं और अपना विधान होता है। तदनुरूप ही उसके बाह्य-रूप में भी परिवर्तन हुआ करता

है। यदि काव्य के किसी स्थल पर एक के बाद एक नये-नये भाव की योजना होती हो तो सफल कवि की छन्दोयोजना भी तदनुरूप ही बदलती जायेगी। कालिदास ने स्वयं ऐसा किया है।[1] किसी काव्यशास्त्र को दृष्टि में न रखकर केवल भावात्मक दृष्टि से किया गया कालिदास का छन्दोविधान अनायास ही उत्तरवर्ती आचार्यों के लिए अनेक रूपों में आदर्श बन गया है। मेघदूत में उनके मन्दाक्रान्ता छन्द की अद्भुत प्रभावकारिता को देखकर ही शायद क्षेमेन्द्र को भी कहना पड़ा —

"प्रावृट्प्रवासव्यसने मन्दाक्रान्ता विराजते"

'रघुवंश' में कुल मिलाकर २० छन्दों का प्रयोग किया गया है, पर रस-भाव के अनुसार उनकी ऐसी व्यवस्थित योजना की गयी है कि उस कलाकार की कलाकारिता को देखकर चमत्कृत रह जाना पड़ता है। सर्ग के अन्त में तो प्रायः शास्त्रीय विधान के अनुसार छन्द बदलता ही है[1] किन्तु कवि ने कथा-वस्तु के अन्य अङ्गों—रस, भाव, व्यापार आदि के विभाजन के समान ही छन्दों का भी एक योजनाबद्ध रूप में विभाजन किया है। आदि से अन्त तक कहीं भी लगातार दो सर्गों में एक छन्द का प्रयोग नहीं किया गया है। प्रथम सर्ग में यदि अनुष्टुप् है तो द्वितीय में उपजाति, तृतीय में वंशस्थ और पुनः चतुर्थ में अनुष्टुप्। कालिदास ने किसी इतिवृत्त को संक्षिप्तरूप से आगे बढ़ाने के लिए अनुष्टुप् का सहारा लिया है यथा १,४,१०,१२,१५ एवं १७ सर्गों में। पर इस सारिणी को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने किस प्रकार बीच-बीच में दूसरे छन्दों की योजना करके विशेष संगीतहीन अनुष्टुप् की दीर्घकालीन एकरूपता को दूर किया है। १० और १२ के बीच में रथोद्धता, १२ और १५ के बीच में उपजाति, १५ और १७ के बीच में फिर उपजाति की योजना के द्वारा बड़ी ही सरलता से कालिदास ने काव्य के रूप विभाजन की समस्या को सुलझाया है। इसमें यह भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि कवि अपने पाठक को अधिक देर तक भाव-जगत् से दूर नहीं रहने देना चाहता है। थोड़ी देर कथानक को संक्षेप में कहकर फिर विशेष वर्णन की भावभूमि में लाकर

१. द्रष्टव्य–रघु० सर्ग ९ में ६४ से ७६ तक १३ पद्यों में ९ विभिन्न छन्दों का प्रयोग हुआ है।

१. द्रष्टव्य–प्रथम सर्ग अनुष्टुप् में है पर [उसका अन्त प्रहर्षिणी में, द्वितीय उपजाति में पर उसका अन्त मालिनी में, तृतीय वंशस्थ में पर उसका अन्त हरिणी में, चतुर्थ अनुष्टुप् में पर उसका अन्त प्रहर्षिणी में। ऐसे ही अन्यत्र भी है।

फिर संगीत के हिलोरे देने लगता है। दसवें सर्ग में रामायण की बहुत सी कथा अनुष्टुप् में कहकर ग्यारहवें में रथोद्धता की उछलती-कूदती चाल फिर सामने आ जाती है। यहाँ विश्वामित्र के साथ वन में जाते हुए राम-लक्ष्मण की चपल गति मानों रथोद्धता से ही व्यक्त हो जाती है। १२ वें सर्ग में फिर सारी रामायण समाप्त कर डाली तो तेरहवें सर्ग में फिर इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा की सम्मिलित मादकता मानों राम-सीता की विमानयात्रा की मनोरम भावाभिव्यक्तियों से ही झलक रही है।

छन्दोयोजना जहाँ पाठक को किसी रस वा भाव विशेष में निमग्न कराने में सहायक होती हैं वहीं उसको किसी भाव की सरसी से निकालकर अन्य भाव-जगत् में ले जाने में भी सहायता करती है। कालिदास ने छन्दोयोजना के इस रूप का भी पूरा-पूरा लाभ उठाया है। उसने रघुवंश के आठवें सर्ग का निबन्धन करुण के लिए परम उपयुक्त वैतालीय वा वियोगिनी छन्द में किया है। इस सर्ग में पाठक करुणा के भार से इतना शिथिल हो जाता है कि उसके आगे कदम बढ़ाने के विषय में भी सन्देह होने लगता है। पर मानव-हृदय का अद्भुत पारखी कुशल कलाकार कालिदास इस बात को स्वयं भी देख रहा था। अतः अज के प्राणान्त के साथ ही उसने विषाद की विलम्बित गति को त्याग-कर तुरन्त ही द्रुतविलम्बित का पल्ला पकड़ लिया। और **'यमवतामवतां च धुरि स्थितः'** की यमक-योजना की झंकार के साथ-ही पाठक का हृदय भी उछलता कूदता वसन्त-विहार और मृगया-विनोद की गोद में जा पहुँचा। सारा मातमी वातावरण देखते-देखते दूर हो गया। वसन्त की मादकता व चित्त की चंचलता का आभास छन्दोयोजना से ही होने लगा।

कालिदास ने किस विषय, भाव या रस की अभिव्यक्ति के लिए किस छन्द का प्रयोग विशेष रूप से किया है इसका विवरण एक विद्वान ने इस प्रकार दिया है —

१– **उपजाति**– वंश वर्णन, तपस्या तथा नायक-नायिका-सौन्दर्य वर्णन में।

२– **अनुष्टुप्**– लम्बी कथा को संक्षिप्त करने एवं उपदेश देने में।

३– **वंशस्थ**– वीरता के प्रकरण युद्ध या युद्ध की तैयारी में।

४– **वैतालीय**– करुण रस की अभिव्यक्ति में।

५– **द्रुतविलम्बित**– सुख एवं समृद्धि के निदर्शन में।

६– **रथोद्धता**– रति-दुष्कर्म-पश्चात्तापादि जनित खेद में—कामक्रीड़ा आखेट आदि में।

७– **मन्दाक्रान्ता**– प्रवास, विपत्ति तथा वर्षावर्णन में।

८– **मालिनी**– सफलता के साथ पूर्ण होने वाले सर्ग के अन्त में।

९– **प्रहर्षिणी**– हर्ष के साथ पूर्ण होने वाले सर्ग के अन्त में। मध्य में– दुःखधारा में हर्ष तथा हर्षधारा में हर्षातिरेक की अभिव्यक्ति के लिए।

१०– **हरिणी**– नायक के अभ्युत्थान तथा सौभाग्यवर्णन में।

११– **वसन्ततिलका**– कार्य की सफलता, ऋतुवर्णन में ऋतुओं की सफलता पर। इसी प्रकार सफलता के लिए प्रस्थान या प्राप्ति में अन्वर्थनाम पुष्पिताग्रा, निराशा के साथ निवृत्ति में तोटक, कृतकृत्यता में शालिनी, क्रीडा में रथोद्धता, वीरता आदि के प्रदर्शन में शार्दूल-विक्रीडित आदि।'[१]

गुण-रीति विधान

काव्य के कलापक्ष की दृष्टि से जिन अन्य तत्त्वों पर यहाँ विचार किया जा सकता है वे हैं भाषा, शैली, गुण और अलंकार। कालिदास अपनी वैदर्भी रीति और उपमा अलंकार के लिए प्रसिद्ध हैं ही।[२] इन पर हमने अन्यत्र विस्तार के साथ विचार किया ही है। अतः यहाँ उसकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं। रघुवंश में इन दोनों का ही उदात्त रूप देखने को मिलता है। कालिदास की कुल उपमाओं में से आधी 'रघुवंश' में आई हैं। गुण का समावेश तो रीति में ही हो जाता है। वैदर्भ मार्ग के पक्षपाती होने के कारण उनके काव्यों में स्वभावतः प्रसाद गुण की प्रधानता रहती है। रघुवंश में तो यह विशेष रूप से पायी जाती है। यहाँ तककि वीरादि के प्रकरणों में भी इसी का बाहुल्य देखा जाता है।[३] उनकी शैली के विवेचन में उनकी कला के इस पक्ष पर भी काफ़ी प्रकाश डाला गया है। यहाँ तो केवल नमूने के तौर पर एक-दो पद्यों को उद्धृत कर बताएँगे कि वे किस प्रकार की सरल, सुबोध एवं समासहीन प्रसन्न पदावली का प्रयोग करते हैं।

दिलीप-सिंह-संवाद चल रहा है। सिंह दिलीप से कहना चाहता है कि एक मामूली सी गाय के लिये इतना बड़ा त्याग करना तो विवेकहीनता का

१. रामगोविन्द शुक्ल, कालिदास ग्रन्थावली (सं० सीताराम चतुर्वेदी) निबन्ध भाग पृ० १०१।

२. (i) वैदर्भीरीतिसन्दर्भे कालिदासो विशिष्यते।
(ii) उपमा कालिदासस्य।

३. द्रष्टव्य–रघु-इन्द्र, अज-राजन्य, राम-राक्षस प्रकरण। ओज प्रसंग
अलं महीपाल तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितोवृथास्यात्।
न पादपोन्मूलनशक्तिरंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य ॥२॥

परिचायक है —

एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च।
अल्पस्य हेतोर्बहुहातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम् ॥
(रघु० २/४७)

इसी प्रकार प्रसाद संवलित वैदर्भी का एक और रूप है अज विलाप से —

गृहिणी सचिवः सखीमिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम् ॥(रघु०८/६७)

उपर्युक्त पद्यों में जिस सरल, सुबोध एवं समासहीन पदावली का प्रयोग किया गया वह स्वयं ही कालिदास के व्यक्तित्व अथवा शैली का जीवन्त रूप प्रस्तुत कर देती है।

अलंकार विधान

कालिदास के अलंकार-प्रयोग की एक विशेषता है कि वे कविता-कामिनी के अंगों पर सुशोभित होने वाले वस्त्राभूषणों की भाँति न होकर स्वयं उसके शरीर-लावण्य के अंग बन गये हैं। सच तो यह है कि कालिदास के अलंकारों की गणना उनके काव्य के कलापक्ष की अपेक्षा भाव-पक्ष में करना अधिक उपयुक्त लगता है। क्योंकि वे काव्य के भाव में ऐसे घुलमिल से जाते हैं कि उनकी पृथक् सत्ता ही प्रतीत नहीं हो पाती।

कालिदास की उपमा के विषय में हम अन्यत्र विचार कर ही चुके हैं और यह भी बता ही चुके हैं कि कुल उपमाओं में से आधी ऐसी हैं जोकि अकेले रघुवंश में पाई जाती हैं। यदि अतिशयोक्ति न समझी जाये तो हम कह सकते हैं कि इसमें कवि ने उपमाओं की गंगा-जमुना ही प्रवाहित कर डाली है। पर यहाँ हम उनकी उपमाओं पर विचार न करके कुछ अन्य अलंकारों का ही दिग्दर्शन कराने का यत्न करेंगे तथा प्रकरण प्राप्त होने के कारण केवल रघुवंश तक ही अपने को सीमित रखेंगे।

'रघुवंश' में भाव और प्रसंगों के अनुरूप प्रायः सभी प्रमुख अलंकारों का प्रयोग दिखाई देता है। राम के बाणों ने कुम्भकर्ण को सदा के लिए गहरी नींद में सुला दिया इस बात को कवि ने 'उत्प्रेक्षा' के द्वारा यों व्यक्त किया है —

अकाले बोधितो भ्रात्रा प्रियस्वप्नो वृथाभवान्।
रामेषुभिरितीवासौ दीर्घनिद्रां प्रवेशितः ॥ (रघु० १२/८१)

(राम के बाणों ने मानो यह कहकर कुम्भकर्ण को गहरी नींद में सुला दिया कि हे कुम्भकर्ण! तुम्हें नींद बड़ी प्यारी है, तुम्हारे भाई रावण ने बीच में ही

तुम्हारी नींद को तोड़कर तुम्हें जगा दिया था ।)[1]

ऐसे ही 'साङ्गरूपक' का एक रूप प्रस्तुत है —

रावणावग्रहक्लान्तमिति वागमृतेन सः ।
अभिवृष्यमरुत्सस्यं कृष्णमेघस्तिरोदधे ॥ (रघु० १०/४८)

(रावण के भयरूपी अकाल से मुरझाए हुए देवतारूपी कृषि पर वाणीरूपी अमृत वरसाकर मेघरूपी विष्णु भगवान् अन्तर्धान हो गये ।) यहाँ पर रूपक के द्वारा देवताओं की आन्तरिक स्थिति का जो स्वाभाविक निदर्शन रूपक द्वारा सम्भव ही सका है वह अन्यथा शायद सम्भव न होता ।[2] 'फलोत्प्रेक्षा' का एक सुन्दर उदाहरण रघुवंश के वारहवें सर्ग से विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में दिया है । भगवान् राम ने रावण की छाती में इतने वेग से वाण मारा कि वह उसकी छाती को पार करके नीचे भूमि में जा धँसा । पर कवि उत्प्रेक्षा करता है कि मानों राम का यह वाण पाताललोकवासियों को रावण-वध का शुभ-समाचार देने के लिए ही पृथ्वी में प्रवेश कर गया :

रावणस्यापि रामास्तो भित्त्वा हृदयमाशुगः ।
विवेश भुवमाख्यातुमुरगेभ्य इव प्रियम् ॥ (रघु० १२/९१)

ऐसे ही 'हेतूत्प्रेक्षा' की भी निम्नलिखित सुन्दर भावपूर्ण कल्पना दर्शनीय है । विमानयात्रा के प्रसंग में राम जानकी जी को वह स्थान दिखाते हैं जहाँ पर कि उनकी खोज में भटकते हुए उन्होंने चुपचाप पड़ा हुआ उनका एक नूपुर देखा था । वह नूपुर क्यों मौन था इसकी उत्प्रेक्षा करते हुए वे कहते हैं कि मानों तुम्हारे चरणारविन्द से वियुक्त हो जाने के दुःख से ही वह वेचारा निःशब्द वहाँ पड़ा हुआ था :

सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम् ।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेष दुःखादिवम् बद्धमौन ॥
(रघु० १३/२३)

सामान्य से विशेष का समर्थन एवं विशेष से सामान्य का समर्थन रूप 'अर्थान्तरन्यास' तो रघुवंश में अनेकत्र दृष्टिगोचर होता है । निम्नलिखित पद्य में 'गुण सर्वत्र ही अपना प्रभाव दिखलाते हैं' इस सामान्य सिद्धान्त का 'रघु की वीरता से इन्द्र प्रसन्न हो गया' इस विशेष घटना के द्वारा समर्थन किया गया है[3] :

१. अन्य द्रष्टव्य—रघु० १२/५; १/२२।
२. अन्य द्रष्टव्य—रघु० १३/८; १४/५१
३. अन्य द्रष्टव्य—५/१७; १/१८; ६/३० (भिन्नरुचिर्हिलोकः) ।

तथापि शस्त्रव्यवहारनिष्ठुरे विपक्षभावे चिरमस्य तस्थुषः ।
तुतोष वीर्यातिशयेन वृत्रहा पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते ।।
(रघु० ३/६२)

ऐसे ही विशेष के द्वारा सामान्य का समर्थन देखिए :

स चानुनीतः प्रणतेन पश्चान्मया महर्षिर्मृदुतामगच्छत् ।
उष्णत्वमग्न्यातप संप्रयोगात् शैत्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य ।।
(रघु० ५/५४)

कुशल कलाकार ने कितनी सुन्दरता एवं स्वाभाविकता के साथ अतिथि के ऊपर तने हुए श्वेत छत्र से समस्त प्रजा लोक के महाराज कुश की मृत्यु से उत्पन्न संताप को दूर करने की 'असंगति' की संगति बैठा दी है[1] :

तस्यैकस्योच्छ्रितं छत्रं मूर्ध्नि तेनामलत्विषा ।
पूर्वराजवियोगौष्म्यं कृत्स्नस्य जगतो हृतम् ।। (रघु० १७/३३)

'सहोक्ति' की भी एक सुन्दर छटा निहारिए । रघु और इन्द्र के युद्ध का प्रसंग है । इन्द्र के कठोर वज्र प्रहार से शौर्यपुञ्ज रघु भूमि पर गिर पड़ा पर कुछ ही क्षण बाद उस आघात को सहन कर वह फिर युद्ध के लिए उठ खड़ा हुआ । यहाँ पर कवि ने उसके गिरने के साथ ही उससे सैनिकों के अश्रुपात की तथा उसके उठने के साथ ही उनकी हर्षतुमुलध्वनि के उठने की योजना करके अनायास ही सहोक्ति की अति सुन्दर योजना कर डाली है[2] :

रघुर्भृशं वक्षसि तेन ताडितः पपातभूमौ सहसैनिकाश्रुभिः ।
निमेषमात्रादवधूय च व्यथां सहोत्थितः सैनिकहर्षनिस्वनैः ।।
(रघु० ३/६१)

महाराज सुदर्शन के प्रसंग में कवि ने 'विभावना' की कैसी सुन्दर योजना की है और कैसी व्यञ्जना की है उनके गौरव की । आभूषणों के भार को भी सहन न कर सकने वाला षड्वर्षीय महाराज सुदर्शन का शरीर पृथ्वी के गुरु भार को धारण करता है[3] :

शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्यः खेदं स यायादपि भूषणेन ।
नितान्तगुर्वीमपि सोऽनुभावाद्धुरं धरित्र्या बिभराबभूव ।।
(रघु० १८/४५)

'विरोध' का रूप भी प्रस्तुत है साथ ही :

---

१. द्रष्टव्य—११/१९

२. द्रष्टव्य— ४/४

३. शशाम वृष्टयापि विना दवाग्निः ।। २/१४; १८/४३; ६/२८

अजस्य गृह्णतोजन्म　निरीहस्य हतद्विषः ।
स्वपतो जागरूकस्य याथार्थ्यं वेद कस्तवः ।।　　　　(रघु० १०/२४)

'अपह्नुति' की भी कमी नहीं। राम-जन्म के अवसर पर, राक्षसों की राज्य-लक्ष्मी के आँसुओं के वहाने, रावण के रत्नकिरीटों से कुछ मणि भूमि पर आ गिरे।[1] कवि कहता है :

दशानन किरीटेभ्यस्तत्क्षणं　राक्षसश्रियः ।
मणिव्याजेन पर्यस्ताः पृथिव्यामश्रुबिन्दवः ।।　　　　(रघु० १०/७५)

सीता के चरणों तथा भरत के सिर के लिए साभिप्राय विशेषणों की योजना के द्वारा 'परिकर' का कैसा सुन्दर रूप निखर आया है —

लङ्केश्वरप्रणतिभङ्गदृढव्रतं तद्वन्द्यं युगं चरणयोर्जनकात्मजायाः ।
ज्येष्ठानुवृत्तिजटिलं च शिरोऽस्यसाधोरन्योन्यपावनमभूदुभयं समेत्य ।।
(रघु० १३/७८)

सीता के चरणों की विशेषता है कि उन्होंने रावण की प्रार्थनाओं को कठोरता पूर्वक ठुकरा दिया है और भरत के सिर की विशेषता यह है कि उसने अपने अग्रज की भक्ति में जटाओं को वढ़ा लिया है।

कवि की 'अतिशयोक्ति' भी स्वभावोक्ति सी ही जान पड़ती है। राज्याभिषेक के तुरन्त बाद ही अतिथि का प्रताप समुद्रतटों तक व्याप्त हो गया इस बात को इस अतिशय उक्ति के रूप में प्रस्तुत किया गया है :

यावन्नाश्यते　　वेदिरभिषेकजलाप्लुता ।
तावदेवास्य वेलान्तं प्रतापः प्राप दुःसहः ।।　　　　(रघु० १७/३७)

देखिए ! अभिषेक वेदी का जल सूखा भी नहीं कि प्रताप आसमुद्र फैल गया।

'तुल्ययोगिता' का एक निखरा हुआ रूप देखिए अग्निवर्ण के क्षीण शरीर की दशा में। राजयक्ष्मा ने उसकी दशा विरहियों की सी बना दी। दोनों में साम्य देखिए —

तस्य पाण्डुवदनाल्पभूषणा सावलम्बगमना मृदुस्वना ।
राजयक्ष्मपरिहानिराययौ कामयानसमवस्थया तुलाम् ।।
(रघु० १९/५०)

'दीपक' की छटा भी कम मनोरम नहीं। एक दीपक बाहर-भीतर सब जगह को चमका दे रहा है। पिता की मृत्यु तथा राम के वनवास की बात को सुनकर भरत अपनी माँ से ही नहीं वरन् अयोध्या की राज्य-लक्ष्मी से भी चिढ़ गये :

1 द्रष्टव्य—१२/२

श्रुत्वा तथाविधं मृत्युं कैकेयीतनयः पितुः ।
मातुर्न केवलं स्वस्याः श्रियोऽप्यासीत्पराङ्मुखः ॥ (रघु० १२/१३)

उपमा के समान ही 'पर्यायोक्त' भी कवि का प्रिय अलंकार है। इसे तो वस्तुतः अलंकार न कहकर कवि की शैली ही कहना चाहिए। इसलिए हमने उसकी शैली के विवेचन में ही इसका विवेचन किया है। यहाँ केवल 'अङ्गाङ्गिभाव संकर' के रूप में ही उसका एक रूप प्रस्तुत किया जा रहा है। इन्दुमती स्वयंवर में सुनन्दा अंगनाथ का परिचय देती हुई कह रही है—

अनेनपर्यासयताश्रुबिन्दून् मुक्ताफलस्थूलतमान्स्तनेषु ।
प्रत्यर्पिताः शत्रुविलासिनीनामुन्मुच्यसूत्रेण विनैव हाराः ॥
(रघु० ६/२८)

प्रस्तुत पद्य में अश्रुविन्दु तथा मुक्ताफलों के वीच अभेद प्रतिपादनपूर्वक विना सूत्र के ही शत्रु नारियों के कण्ठ में हार पहनाने की बात के द्वारा उनके विधवापन का निर्देश किया गया है। सो यहाँ पर अतिशयोक्ति और विभावना से परिपुष्ट पर्यायोक्ति का संकर है। ऐसे ही और भी अनेक अलंकारों की योजना रघुवंश में पाई जाती है।[1]

शब्दालंकारों में कवि की विशेष रुचि तो नहीं पर प्रसंग व रस के अनुरूप कहीं-कहीं अनुप्रास और यमक की अकृत्रिम सुन्दर योजना बन पड़ी है।[2] अनुप्रासों में सर्वत्र ही नाद सौन्दर्य दर्शनीय है।

प्रकृति-चित्रण

कालिदास ने अपने महाकाव्य के लिए कथावस्तु का विशाल पटल चुना था। यदि वह रघुवंश के प्रतापी नरेशों के ऐश्वर्य, पराक्रम और उनकी वैभव और विलास की सामग्री एवं नगरियों के वर्णन तक ही अपने को सीमित रखता तो निश्चित था कि दो तीन शासकों के वर्णन के बाद ही रघुवंश में चित्रों की पुनरावृत्ति शुरू हो जाती और पाठक का मन ऊबने लगता। पर महाकवि कालिदास इतना सा ही पाथेय लेकर इतनी बड़ी यात्रा पर नहीं निकले थे। उन्होंने देश, काल, परिस्थिति के लिए भिन्न सामग्री जुटाई थी। इतने विशाल चित्र को सजाना हँसी खेल नहीं था। अपने इसी कला विधान में उन्होंने प्रकृति

---

१. द्रष्टव्य—स्मरण-रघु० ६/५८, ६७; स्वभावोक्ति रघु० ३/२५-२६; ७/६६ इत्यादि।

२. द्रष्टव्य—अनुप्रास रघु० १/५६; २/३०; ४८, ७४; ७/१६ यमक-रघु० ६/१,२; २/३०, ३२ आदि।

का भी हाथ पकड़ लिया है। कालिदास ने प्राकृतिक वैभव तथा मानवीय वैभव को बहुत निकट से देखा था तथा उसका आस्वादन भी किया था।

कालिदास कलाकार तो था ही; वह जानता था कि कहाँ किस वस्तु का किस रूप में उपयोग होना चाहिए। उसने प्रकृति का भी विविध रूपों से उपयोग करके अपनी कलाकृतियों को सजा डाला है। प्रसंग और भाव के अनुकूल प्रकृति का रूप बदलता चलता है। वह उसकी कथावस्तु का एक अभिन्न अंग बन जाती है। उसके सहयोग से प्रत्येक भाव और प्रसंग स्पष्ट-तर हो उठता है। रघु के दिग्विजय अथवा इन्दुमती के स्वयंवर के अवसर पर उसने प्रकृति-वर्णन के सहारे चित्रों को जो सजीवता एवं रंजकता प्रदान की है वह केवल उन प्रकरणों का अनुशीलन करने से ही अनुभव की जा सकती है।

'रघुवंश' में मुख्यतया तीन रूपों में कालिदास ने प्रकृति को स्थान दिया है। वे हैं–वस्तु-विधान,[1] भाव विधान[2] और अलंकार-विधान[3]। क्योंकि प्रकृति-पुत्र की प्रकृतिसाधना पर हम पृथक् रूप से भी विचार कर रहे हैं अतः यहाँ उस पर विचार करना पिष्टपेषण ही होगा। विज्ञ पाठक इसके लिए तत्सम्बन्धी प्रकरण को ही देख सकते हैं।

---

१. द्रष्टव्य रघु० ४/१६–२४, ३७,४२, ४६,४८, ५१,५७, ६५,७२–७६;९/२६–४८, १६/४२–७०.

२. द्रष्टव्य रघु० १/५०–५२; २/१५,१७;५/४३–४६,६६–७४, ६/३५,४२,४८,५१, ५७,६०,६४.

३. द्रष्टव्य रघु० १/१६,३६,४६, ७०,८३; २/२०,२६; ४/१, ११,३५,६३; ५/३७; ६/३,२६ आदि।

(३)

रघुवंश का भावपक्ष

समानान्तर शब्द-चयन

'रघुवंश' महाकवि की प्रौढ़तम कृति है। उनकी प्रज्ञा और प्रतिभा का परिपक्व रूप इसमें पदे-पदे प्रतिफलित हुआ है। कला की दृष्टि से इस महाकाव्य की वस्तुयोजना तथा अलंकरण में कवि ने जिस कौशल का परिचय दिया है उस पर हम पीछे कुछ प्रकाश डाल चुके हैं। अब हम संक्षेप से उनकी भाव- व्यञ्जना पर भी कुछ विचार करेंगे। वस्तुतः भाव व्यञ्जना ही वह प्रधान तत्त्व है जो कि रघुवंश को एक ऐतिहासिक वंश-वर्णन से उठा कर महाकाव्य के उच्च सिंहासन पर आसीन करा देता है, इसे सहृदयों का कण्ठहार बना देता है।

वस्तुयोजना के सम्बन्ध में हम देख चुके हैं कि कालिदास ने इस राजवंश की इतनी लम्बी शृंखला से घटनाओं का चुनाव किस सूझबूझ के साथ किया है। उन्होंने इस विशाल कथानक के मार्मिक स्थलों को पहचाना है तथा उन्हें बड़ी सबल एवं भावपूर्ण अभिव्यक्ति प्रदान की है। इसके लिए उन्होंने भावाभिव्यक्ति के सभी साधनों का प्रयोग किया है। कहीं-कहीं तो इंगितमात्र से ही बड़े सूक्ष्म एवं संकुल भावों की सुन्दर व्यञ्जना कर डाली है। भाषा तो उनके सामने मानो हाथ जोड़े खड़ी रहती है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं कोमलतम भावों की अभिव्यक्ति के लिए एक से एक सुन्दर शब्द उनकी आज्ञा की प्रतीक्षा करता रहता है और वे उनमें से अधिकतम भावाभिव्यञ्जक शब्द को स्थान देकर अनुगृहीत कर डालते हैं। कभी-कभी तो एक-एक शब्द अनेकानेक व्यञ्जनाएँ करता हुआ दिखाई देता है। इसीलिए तो सहृदय पाठक उनके एक-एक शब्द पर मुग्ध है। मेघदूत के प्रसंग में हमने उनके कुछ शब्दप्रयोगों के विषय में विचार किया है। पर वह तो कवि के अप्रौढ जीवन की कृति है। रघुवंश तो

उससे बहुत-बहुत आगे है। यहाँ तो एक-एक शब्द स्वयं में एक सम्पूर्ण भाव व इतिहास को लेकर चला है। रचना में से एक भी शब्द इधर-उधर कर दीजिए सारा भाव-सौन्दर्य ही विखर जायेगा। सीता के सन्देश—'वाच्यस्त्वया **मद्वचनात् स राजा'**—से 'राजा' शब्द को निकाल दीजिए सारा भाव सौन्दर्य ही नष्ट हो जायेगा। इस शब्द की जो व्याख्या कालिदास ने **'राजा प्रकृतिरञ्जनात्'** के द्वारा की है उसके परिवेश में यहाँ पर 'राजा' शब्द कितने गहन व्यङ्ग्य की योजना कर रहा है यह सम्भवतः वताने की नहीं, अनुभव करने की बात है। ऐसे ही दिलीप के प्रसंग में **'पप्रच्छ कुशलं राज्ये राज्याश्रममुनिं मुनिः (रघु० १/५८)'** में दिलीप को 'राज्याश्रममुनि' कहकर शब्दमात्र से कवि ने दिलीप के संयत एवं आदर्श जीवन की जो व्यञ्जना कर डाली है वह शायद उसके समस्त कार्यकलापों का वर्णन करने से भी न हो पाती। दिलीप-सिंह-सम्वाद में भी कवि ने पूरे वजन के नपे-तुले शब्दों के साथ दिलीप के व्यक्तित्व को जिस खूबी के साथ उभारा है वह दर्शनीय है —**'ततोमृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रगामी (२/३०)' 'सिंहोरुसत्त्वं निजगादसिंहः (२/३३)' 'इति प्रगल्भं पुरुषाधिराजो मृगाधिराजस्य वचो निशम्य (२/४१)' 'निशम्य देवानुचरस्य वाचं मनुष्यदेवः पुनरप्युवाचः (२/५२)** इत्यादि। कैसा वरावर का मुकावला है। एक 'मृगेन्द्र' है तो दूसरा 'मृगेन्द्रगामी', एक 'सिंह' है तो दूसरा 'सिंहोरुसत्त्व' एक 'मृगाधिराज' है तो दूसरा 'पुरुषाधिराज' एक 'देवानुचर' है तो दूसरा 'मनुष्यदेव'। ऐसे रघु-इन्द्र प्रसंग में **'ददर्श देवं नरदेव सम्भवः** (३/४२) में भी समकक्षता शब्दों से ही प्रकट कर दी गयी है।[1] शब्दप्रयोग के द्वारा कवि भावों की गहनता को किस प्रकार वढ़ा देता है इसका एक उदाहरण देखिए। प्रथम सर्ग में ही गुरु वशिष्ठ के सम्मुख अपनी मानसिक व्यथा की समस्या को प्रस्तुत करता हुआ दिलीप कहता है –**'किन्तु वध्वां तवैतस्यामदृष्टसदृशप्रजम्। न मामवति सद्वीपा रत्नसूरपि मेदिनी (रघु० १/६५)।'** यहाँ पर 'रत्नसूः' की स्थिति से 'अदृष्टप्रजम्' की भावना कितनी तीव्र हो उठती है यह वताना शब्दातीत है। दिलीप की एक पत्नी रत्नों का प्रसव करती है और दूसरी प्रसवहीन है। सुदक्षिणा में भी वह 'रत्न-प्रसव' की कामना करता है यह भाव भी उसके 'रत्नसूः' शब्द से स्पष्ट झलकता है। इस रत्न का 'वंश' के लिए क्या महत्त्व होगा—इसकी व्यञ्जना तो प्रकरण से ही स्पष्ट हो सकती है।

---

१. द्रष्टव्य (क) **श्रुतप्रकाशं यशसा प्रकाशः प्रत्युज्जगामातिथिमातिथेयः। (रघु०५/२)**
(ख) **तमर्चयित्वा विधिवद्विधिज्ञस्तपोधनं मानधनाग्रयायी॥ (वही५/३)**

शब्दों के पारखी कवि के मन में शब्द और उनके अर्थ का विशिष्ट भाव किस प्रकार अपना प्रभाव डाल चुका था इसका संकेत तो हमें रघुवंश के मंगलाचरण में ही मिल जाता है। कालिदास इस ग्रन्थ का प्रारम्भ ही **'वागर्थाविव सम्पृक्तौ'** के विशिष्ट भावपूर्ण पद से करता है। उसके लिए शब्द और उसका अर्थ उतना ही पूजनीय तथा वरदायक है जितने कि पार्वती-परमेश्वर। वरन् उपमा के आचार्य ने उन्हें उपमान पद पर स्थापित करके उनके महत्त्व को एक कोटि आगे ही बढ़ा दिया है।

देश-कालातीत सौन्दर्य-व्यञ्जना

कालिदास मानव-मन का अनोखा पारखी था। शब्द उसके इंगित पर नाचते थे, कला ने उसे अपना अनावृत रूप दिखाया था, और जीवन के अनुभव ने उसे बहुत कुछ सिखा दिया था। जब वह रघुवंश लिखने बैठा था तो उसके पास इन सबकी अतुलराशि थी। उसने कुशल कलाकार की भाँति जहाँ जिस तत्त्व की जितनी मात्रा में अपेक्षा थी वहाँ उतना प्रस्तुत कर दिया, न कम और न ज्यादा, नाप-तोल कर। उसने प्रारम्भ में ही सूर्यवंश के और तदनन्तर दिलीप के गुणों की ओर संकेत करके पाठक के मन को पहले से ही गम्भीर एवं भावपूर्ण वातावरण में प्रवेश करने के लिए तैयार कर दिया है।

कवि चाहता तो दिलीप के शारीरिक-सौन्दर्य के वर्णन में बहुत कुछ कह सकता था, महाकाव्य का प्रारम्भ हो रहा है, पाठक भी अभी बहुत कुछ सुनने के लिए उत्सुक है, पर नहीं, महाकवि ने इसके विस्तार में जाना उपयुक्त नहीं समझा। बस एक झाँकी प्रस्तुत कर दी, एक लम्बे तडंगे वीर पुरुष की, जिसकी छाती उभरी हुई तथा चौड़ी, कन्धे वृषभ की भाँति सुदृढ़, डील-डौल में पूरे का पूरा साल का वृक्ष तथा भुजाएँ भी ऐसी ही लम्बी थीं। सम्पूर्ण रूप से देखने वाले पर उस शरीर का ऐसा प्रभाव पड़ता था जैसे कि मानो क्षत्रियत्व ही अपने समस्त कार्यों की सिद्धि के लिए उसके शरीर के आकार में प्रकट हो पड़ा हो।[1] बस, कवि ने उसके नख-शिख के वर्णन में न जाकर वीर क्षत्रिय की एक सबल रूपरेखा खींच दी और प्रत्येक देश और प्रत्येक काल के पाठक के लिए खुली छूट दे दी कि वह अपने आदर्श व संस्कारों के अनुरूप शेष चित्र को पूरा कर ले।

'रघुवंश' के प्रौढ़ कवि ने सम्पूर्ण काव्य में रूप-वर्णन के इसी भाव को

१ व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः।
आत्मकर्मक्षमंदेहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः॥ (रघु० १/१३)

सामने रखा है। वह अपने युग का विशेष चित्र उपस्थित करके उसे युग विशेष तथा स्थान विशेष तक ही सीमित नहीं रखना चाहता है। यहाँ तक कि रघुवंश की सुन्दरतम नारीपात्र इन्दुमती के विषय में भी कवि ने अपने इसी दृष्टिकोण को स्थिर रखा है। इसमें तो सन्देह के लिए अवकाश ही नहीं रह जाता कि वह रूपसी अवश्य ही अद्‌भुत सुन्दरी होगी जिसके लिए दूर-दूर से इतने राजकुमार एकत्रित हुए थे। पर रूप-वर्णन का ऐसा सुवर्ण अवसर भी कवि को कोरी कल्पना वा शब्दजाल के चक्कर में पड़ने के लिए प्रलोभित न कर सका। वह उसकी शरीर-रचना के विषय में केवल इतना ही कह सका कि 'वह विधाता की उत्कृष्टतम रचना थी' और उस रूप को देखकर सारे राजकुमार ऐसे ठगे से रह गये कि उन्हें अपनी सुध भी न रही।[१] इसके बाद फिर एक वाक्य में उसे रात्रि में राजमार्ग से चलती हुई दीपशिखा कहकर उसके अद्‌भुत सौन्दर्य की व्यञ्जना भर कर दी।[२] अब उसका नख-शिख क्या होगा ? कैसा होगा ? इस सबको छोड़ दिया है देश-काल निरवच्छिन्न सौन्दर्य-पारखी सहृदय पर। इसीलिए जहाँ पार्वती, शकुन्तला को हम भारतीय कह सकते हैं वहाँ इन्दुमती को 'विश्व-सुन्दरी' के पद पर आसीन कराया जा सकता है।

अनूढ़ा नायिका के रूप में रूप-चित्रण का अवकाश 'रघुवंश' में केवल इन्दुमती के प्रसंग में ही आया। सीता के प्रसंग में कवि जानबूझ कर इसे टाल गया है। वहाँ सीता ने स्वयं वरण नहीं करना था। उसका निर्णय तो धनुर्भङ्ग के द्वारा होना था। तुलसीदास जी ने पुष्पवाटिका में सीता और राम का जो पूर्वराग का रूप चित्रित किया है वह भारतीय धार्मिक दृष्टिकोण से चाहे मान्य हो पर काव्य-विधान की दृष्टि से नहीं हो सकता था। अतः कालिदास ने सीधे ही राम से धनुर्भङ्ग कराकर जनक के द्वारा सीता राम को अर्पित करा दी है। अन्य सभी नारीपात्र विवाहित रूप में ही हमारे सामने आये हैं। किसी परिणीता नारी के रूप-सौन्दर्य का वर्णन भारतीय काव्यशास्त्र के विधान के अनुसार अनुचित होता। भारतीय दृष्टिकोण से विवाहिता नारी का तो सबसे बड़ा सौन्दर्य है पातिव्रत। अतः दिलीप की पत्नी सुदक्षिणा का परिचय देते हुए कवि ने बड़े ही संक्षिप्त रूप में उसके गुणों की मार्मिक व्यञ्जना कर दी है। एक स्थान पर तो उसके

---

१. तस्मिन् विधानातिशये विधातुः कन्यामये नेत्रशतैकलक्ष्ये।
निपेतुरन्तकरणैर्नरेन्द्राः देहैः स्थिताः केवलमासनेषु॥ (रघु० ६/११)

२. संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्र मार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः॥

'दाक्षिण्य' की ओर संकेत करके और उसे यज्ञ की पत्नी दक्षिणा के रूप में प्रस्तुत करके[1] तथा दूसरी जगह 'अपांसुलानां धुरिकीर्तनीया' (रघु० २/२) सीता की प्रशंसा भी वाल्मीकि ने 'धुरिस्थिता त्वं पतिदेवतानाम्' (रघु० १४/७४) कह कर की है। अपने अन्य ग्रन्थों में भी कवि ने अधिकतर इसी रूप को अपनाया है।

ऐसे ही कवि को दिलीप के व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति प्रदान करनी थी तो कह दिया—

सर्वातिरिक्तसारेण सर्वतेजोऽभिभाविना।
स्थितः सर्वोन्नतेनोर्वीं क्रान्त्वा मेरुरिवात्मना॥ (रघु० १/१४)

बस, इतने से ही उसके बल, तेज, गौरव, उच्चता आदि का सुन्दर आभास हमें मिल जाता है। उसका व्यक्तित्व सम्पूर्ण रूप से ही चमक उठता है।

रघुवंश में भावचित्रों की आदि से अन्त तक ऐसी मोहक शृङ्खला है कि पाठक उनमें निरन्तर डूबता-उतराता जाता है। यहाँ पर उन सबको उपस्थित करने का अभिप्राय होगा प्रस्तुत प्रबन्ध के कलेवर को बहुत अधिक बढ़ा डालना। अतः उनमें काँट-छाँट तो करनी पड़ेगी ही, पर किसे छोड़ा जाये और किसे लिया जाये यह निर्णय करना सरल नहीं। एक से एक प्रिय तथा एक से एक मोहक!

रघुवंश की भावचित्र योजना

माधुर्य : वशिष्ठाश्रम की यात्रा के प्रसङ्ग में ही कवि ने किस सरलता के साथ इस स्नेह से पगे मधुर भाव को उपस्थित कर दिया कि राजा दिलीप जिस क्षेत्र से होकर जा रहे थे वहाँ के बूढ़े-बूढ़े घोषी ताजा मक्खन लेकर उनकी सेवा में उपस्थित होते थे और राजा और रानी उनसे मार्ग में पड़ने वाले लतावृक्षों के बारे में पूछने लगते थे।[2] अकृत्रिम स्नेह और आदर का कैसा मधुर आदान-प्रदान है। भाव की सरलता ही हृदय को मोह लेती है।

स्नेह और विश्वास : इसके आगे ही वशिष्ठाश्रम के स्नेह, शान्ति, पवित्रता और विश्वास का जो रूप प्रस्तुत किया है वह तो पाठक के हृदय

---

१. तस्य दाक्षिण्यरुढेन नाम्ना मगधवंशजा।
पत्नी सुदक्षिणेत्यासीदध्वरस्येव दक्षिणा॥ (रघु० १/३१)

२. हैयंगवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान्।
नामधेय नि पृच्छन्तो वन्यानां मार्गशाखिनाम्॥ (रघु० १/४५)

पर इन सबकी एक अमिट छाप छोड़ जाता है । स्नेह और विश्वास का क्या ही अलौकिक रूप है । 'तपोवन के मृगों को ऋषि पत्नियों से इतना स्नेह और वात्सल्य मिला है कि वे तिन्नी के दाने खाने के लिए सायंकाल को उनकी पर्ण-कुटियों के द्वार पर लाड़ले बच्चों की तरह रास्ता रोके खड़े हैं । पक्षी निश्चिन्त होकर जलपान कर सकें इसलिए ऋषि कन्यायें वृक्षों के थाँवलों में पानी भरकर वहाँ से दूर हट गयी हैं । कुटियाओं के आंगनों में सुखाने के लिए फैलाया हुआ अन्न सायंकाल के लिए समेट दिया गया है और हरिण उनके पास ही बैठकर बड़े प्रेम से जुगाली कर रहे हैं ।'[1]

तपोवन के पावन स्नेह और विश्वास की ऐसी ही कमनीय योजना हुई है पञ्चम सर्ग में भी । 'सर्वस्व दक्षिणयाजी' महाराज रघु 'गुरुदक्षिणार्थी' कौत्स से पूछ रहे हैं—'हरिणों के वे छोटे-छोटे बच्चे तो कुशलपूर्वक हैं न, जिन्हें जन्म से ही ऋषियों का ऐसा स्नेह प्राप्त है कि उनके नाभिनाल भी सूखकर उन्हीं की गोद में गिरते हैं और वे उनके इतने लाड़ले होते हैं कि यज्ञ के लिए बटोरी हुई उनकी कुशा को खा जाने पर भी वे उनसे कुछ नहीं कहते ।'[2]

किसी प्रकार की बिम्ब-योजना के बिना ही ऐसे शान्त और स्निग्ध भाव की सृष्टि कोई अन्य कवि कर सका हो ऐसा स्मरण नहीं आता । आज के छल, कपट और अविश्वास से भरे हुए मानवलोक को देखकर मन ललक उठता है पावन स्नेह से लबालब भरे हुए इन तपोवनों के दर्शनों के लिए । **'तदङ्कशय्याच्युतनाभिनाला'** की भावना तो एकदम अद्भुत है । सहृदय पाठक के मन पर सदा के लिए एक अनिर्वचनीय स्नेह और विश्वास की भावना को उभार जाती है ।

सेवा-भाव : किसी भाव-योजना के लिए उसे किसी प्रकार के लम्बे-चौड़े वर्णन वा अलंकार-योजना की आवश्यकता पड़ती हो—ऐसी बात नहीं । वह

---

१. आकीर्णमृषिपत्नीनामुटजद्वाररोधिभिः ।
अपत्यैरिव नीवारभागधेयोचितैः मृगैः ॥
सेकान्ते मुनिकन्याभिस्तत्क्षणोज्झितवृक्षकम् ।
विश्वासाय विहङ्गानामालवालाम्बुपायिनाम् ॥
आतपत्ययसंक्षिप्त नीवारासु निषादिभिः ।
मृगैर्वर्तितरोमन्थमुटजाङ्गनभूमिषु ॥ (रघु० १/५०-५२)

२. क्रियानिमित्तेष्वपि वत्सलत्वादभग्नकामा मुनिभिः कुशेषु ।
तदङ्कशय्याच्युतनाभिनाला कच्चिन्मृगाणामनघा प्रसूतिः ॥ (रघु० ५/७)

कैसी विडम्बना है ! कालिदास ने जिसका 'क्षात्रधर्म का अवतार' कहकर परिचय दिया था, **'सर्वातिरिक्तसारेण सर्वतेजोभिभाविना'** कहकर जिसकी प्रशंसा की थी, जिसकी सारी सफलताओं का श्रेय उसकी धनुष की डोरी को दिया था (१/१९) और अभी-अभी धनुष को लेकर इन वनों में विचरण करते देखकर उसने कहा था कि मानों नन्दिनी की रक्षा के बहाने जंगल के दुष्ट जीवों को विनय की शिक्षा देता फिर रहा है।[1] वही इस समय एक सिंह से गौ की रक्षा के लिए आकुल उसे देखकर सिंह ने मानो व्यङ्ग्य भरे स्वर में उसे 'महीपाल' कहकर सम्बोधित किया। मानों कि वह कहना चाह रहा हो कि हे पृथ्वी का पालन करने वाले 'समुद्रों की खाई से घिरी हुई सम्पूर्ण पृथ्वी का एक नगर की भाँति पालन करना'[2] और बात है पर एक गौ की पालना करना कुछ और ही बात है। अतः 'मही के पालन' का श्रम तुम करते रहो पर 'गौ के पालन' का श्रम वृथा ही होगा। इतना ही नहीं उसके विस्मय को बढ़ाता हुआ बोला— 'कि पहले तो तुम अस्त्र चला ही नहीं सकते। और यदि किसी प्रकार इसे चलाने में समर्थ भी हो गये तो तुम मेरा कुछ बिगाड़ नहीं सकते।' जब इतने से भी सन्तोष न हुआ तो फिर बोला—'पेड़ों को उखाड़ने की सामर्थ्य रखने वाला वायु का वेग पहाड़ को तो नहीं हिला सकता।' कितनी बड़ी चुनौती थी उसके स्वाभिमान को। सिंह ने तो उसके समस्त गौरव और स्वाभिमान को करारी ठोकर मारने में कोई कसर नहीं रखी थी, पर कालिदास ने बचा लिया उसे। दिलीप को अभी तक मालूम नहीं कि यह सिंह कौन है ? पर जो भी हो वह अपने आप को पर्वत कहता है तो ठीक है। इसमें दिलीप की शक्ति का कोई अपमान नहीं। वह भी सामान्य शक्ति नहीं, लौकिक शक्ति श्रेष्ठतम रूप है यह तो सिंह भी स्वीकार करता है उसे वायु का वेग कहकर। और वह भी सामान्य वेग नहीं वरन् वह प्रबलतम वेग जोकि बड़े-बड़े महीरुहों को जड़ से उखाड़ फैंकने की सामर्थ्य रखता है। महीधरों को न आज तक किसी ने धराशायी किया है और न कर सकेगा। फिर इस पर यदि वह महीधर को धराशायी नहीं कर सकता तो भला इसमें उसका अपमान ही किस बात का। प्रकारान्तर से मान की रक्षा हो गयी, ठीक है, पर धर्म की रक्षा तो नहीं हो

---

१. लताप्रतानोद्ग्रथितैः स केशैरधिज्यधन्वा विचचार दावम्।
रक्षापदेशान्मुनिहोमधेनोर्वन्यान्विनेष्यन्निव दुष्टसत्त्वान्॥ (रघु०२/८)

२. स वेलावप्रवलयां परिखीकृतसागराम्।
अनन्यशासनामुर्वीं शशासैक पुरीमिव॥ (रघु०१/३०)

कर चुका है और इसी समय गुरुदक्षिणार्थी कौत्स भी १४ हजार सुवर्णमुद्राओं की कामना से वहाँ आ पहुँचता है और 'मृत्पात्रावशेष' रघु को अपनी अर्थ-पूर्ति के लिए इस समय असमर्थ देखकर कहता है—आपके पास तो अब कुछ है नहीं, इसलिए अब मैं गुरुदक्षिणा के लिए किसी और दानी का द्वार खटखटाता हूँ। क्योंकि जलहीन बादल से तो पपीहा भी जल की याचना नहीं करता। अच्छा ! भगवान् आपका कल्याण करें'।[1] यह कहकर जब वहाँ से जाने लगता है तो हमारा हृदय एक गहरी व्यथा की अनुभूति करने लगता है। इस पर रघु उससे अनुनय करता हुआ कहता है कि 'मैं इस लोकापवाद को सहन नहीं कर सकता कि कौत्स जैसा शास्त्रपारङ्गत ब्राह्मण रघु से गुरु दक्षिणा के लिए धन न पाकर किसी दूसरे दाता के द्वार पर गया।[2] इस दशा में भी स्वाभिमान का रूप कितना जागृत है।

वस्तुतस्तु रघु के ये भावनापूर्ण शब्द ऐसे हैं जैसे कि मानों हमारे ही मुख के शब्दों को रघु ने छीन लिया हो। कौत्स को इस प्रकार निराश लौटते देखकर स्वयं हमारा हृदय इसी प्रकार के भाव से भर गया था और इस अभिव्यक्ति से उसे एक प्रकार की सान्त्वना सी मिलती है। और फिर दान के समय की घटना तो संसार के साहित्य और इतिहास में अद्वितीय ही है।[3] उस दिन अयोध्यावासियों ने अपनी आवश्यकता से अधिक एक कौड़ी भी न लेने वाले याचक तथा उसकी आवश्यकता से भी अधिक देने के लिए तुले हुए दानी के बीच होने वाले जिस तमाशे को देखा था वह महाकवि की लेखनी का स्पर्श पाकर उसके पाठकों के हृदयों पर युगयुगान्तर के लिए उत्कीर्ण हो गया। त्याग और निःस्पृहता का यह भाव एक बार भी जिस हृदय को छू गया, सदा के लिए उसमें स्थान बनाकर बैठ गया। यद्यपि आज के अर्थप्रधान युग में, ऐसे दानी और तपस्वियों के अभाव में ये सारी बातें किसी दूसरे लोक की सी लगती हैं।

---

१. तदन्यतस्तावदनन्यकार्यों गुर्वर्थमाहर्तुमहं यतिष्ये।
स्वस्त्यस्तु ते निर्गलिताम्बुगर्भं शरद्घनं नार्दति चातकोऽपि॥ (रघु० ५।१७)

२ गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा रघोः सकाशादनवाप्य कामम्।
गतो वदान्यान्तरमित्ययं मे मा भूत्परीवादनवावतारः॥ (रघु० ५।२४)

३. जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वौ।
गुरुप्रदेयाधिक निःस्पृहार्थी नृपोऽर्थिकामादधिक प्रदश्च॥ (रघु० ५।३१)

भावपूर्ण तथ्य-चित्रण

दूसरे सर्ग में तो कवि ने एक से एक सुन्दर भावचित्रों की झड़ी सी लगा दी है। दिलीप किस प्रकार श्रद्धा-भक्ति के साथ एकान्त रूप से नन्दिनी की सेवा में तत्पर हुए, वन में विचरण करते हुए उनका क्या रूप था, वन को जाते तथा लौटते समय उनका रूप क्या होता था—इसकी सुन्दर व्यञ्जना अनेक पद्यों में हुई है।[1] नन्दिनी दिनभर इधर-उधर घूमकर सायंकाल के समय आश्रम के लिए लौट रही है इस भाव को कवि ने बड़े ही व्यञ्जक ढंग से प्रस्तुत किया है।[2] नन्दिनी के आश्रम में लौटने के वर्णन के साथ-साथ सूर्य की प्रभा का विश्राम के लिए लौटने की बात कहकर उसने नन्दिनी की दिव्यता और पावनता के भाव की सुन्दर व्यञ्जना कर डाली है। तपोवन के मार्ग में धीरे-धीरे चलते हुए पृथु शरीरी दिलीप और पृथुस्तनी नन्दिनी का रूप देखते ही बनता है।[3] नन्दिनी के पीछे-पीछे आते हुए राजा के दर्शनों की प्यासी रानी सुदक्षिणा की अपलक आँखों का जो चित्र कालिदास ने खींचा है, वह तो किसी चित्रकार की तूलिका से खीचे गये चित्र से किसी भाँति भी कम नहीं। कैसा भावपूर्ण चित्र है! प्रातःकाल ही सुदक्षिणा ने नन्दिनी की पुष्पाक्षत से पूजा की, बछड़े को दूध पिलाया और जंगल में चराने के लिए ले चले। रानी आश्रम के बाहर तक पीछे-पीछे छोड़ने गई और फिर राजा ने स्नेह से उसे लौटा दिया। वह आश्रम में लौट आई। बड़ी उत्सुकता से दिनभर उनके आने की प्रतीक्षा करती रही। सांझ हुई, सूर्य पश्चिम की ओर बढ़ने लगा, रानी की दर्शन लालसा और भी बढ़ चली। उत्सुकतावश समय से पहले ही पूजा का सामान लेकर उनके स्वागत के लिए आश्रम के बाहर तक जा पहुँची। पर्याप्त प्रतीक्षा के बाद जब दर्शन की प्यासी आँखों ने वन की ओर से तपोवन के मार्ग पर धीरे-धीरे लौटती हुई नन्दिनी और उसके पीछे-पीछे ऐसे ही थके-माँदे राजा को आते देखा तो वे उनके रूप को अपलक होकर अतृप्त सी

---

१. रघु० २।७–२५

२ सञ्चारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम्।
प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः॥ (रघु० २।१५)

३. आपीनभारोद्वहनप्रयत्नाद्गृष्टिर्गुरुत्वाद्वपुषो नरेन्द्रः।
उभावलंचक्रतुरञ्चिताभ्यां तपोवनावृत्तिपथं गताभ्याम्॥ (रघु० २।१८)

पासि' में शायद सिंह उसे सन्तति के प्रसंग की भी याद दिलाने की चेष्टा कर रहा है। इसके साथ जितनी भी बातें सिंह ने दिलीप को समझाईं वे सब उसके मन में द्वैधी-भाव उत्पन्न करने के लिए की गयी हैं। एक कुशल मनोवैज्ञानिक की भाँति कालिदास ने यहाँ मन की तहों के बीच घुसकर उसके पार के छिपे हुए भाव को प्रस्तुत करने का यत्न किया है। सिंह के तर्क इतने उचित (Convincing) से लगते हैं तथा उसने विभिन्न प्रसंगों को उपस्थित कर मनोभाव को विभक्त करने का ऐसा यत्न किया है कि पाठक एक बार तो स्वय भी विचलित हो उठता है। कालिदास को भी शायद ऐसा लगने लगा था, इसीलिए उसने उस टूटते हुए भावसूत्र को गाँठ देकर कह दिया —कि राजा जब सिंह की बातों में ध्यान दे रहा था तो सिंह से आक्रान्त नन्दिनी कातर दृष्टि से उसे बराबर देख रही थी। दयालु राजा से उसका वह रूप न देखा गया।[1] सिंह के तर्क और अन्यमनस्क करने वाली बातों से मन का वेग शिथिल होता या न होता पर नन्दिनी की कातर दृष्टि ने उसे और भी प्रबल वेग से उभाड़ दिया। अब इतनी देर में प्रारम्भिक भावावेश तो उतर चुका था पर उसके स्थान पर अब सुचिन्तित लक्ष्य आ चुका था। अतः अब केवल 'इस गाय के बदले मुझे खालो' वाली भावुक उक्ति के लिए स्थान नहीं था। तार्किक सिंह को तर्कों से ही मनवाना था, अतः भाव के साथ एक प्रबल तर्क सामने आया कि मैं क्षत्रिय हूँ, और क्षत्रिय शब्द का विश्वविदित अर्थ है दूसरों को नाश होने से बचाना। यदि यह ही नहीं हो सका तो फिर **'एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं'** अथवा अपयश से कलंकित **'नवं वयः'** अथवा **'कान्तं वपुः'** से भी क्या लाभ ?[2] गौ भी सामान्य नहीं और तुमने कैसे इस पर आक्रमण किया यह भी मैं सब समझ ही गया हूँ (२।५४) अब इस पर अधिक बहस करने की आवश्यकता नहीं। इसलिए दो टूक बात यह है कि अपना शरीर देकर भी मुझे इसकी रक्षा करनी ही चाहिए। इससे दोनों ही कार्य सिद्ध हो जायेंगे। आपकी शारीरिक क्रिया और अग्निहोत्री गुरु वशिष्ठ की धार्मिक क्रिया यदि मेरे एक शरीर के दान से निष्पन्न हो जाए तो इससे बड़े सौभाग्य की बात मेरे

---

१ निशम्य देवानुचरस्य वाचं मनुष्यदेवः पुनरप्युवाच।
धेन्वा तदध्यासितकातराक्ष्या निरीक्ष्यमाणः सुतरां दयालुः॥ (रघु० २/५२)

२. क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा॥ (रघु० २/५३)

तो थोड़े और सरल शब्दों में ही भावों की सुन्दर योजना कर डालता है। राजा दिलीप किस एकान्तभाव से नन्दिनी की सेवा कर रहे थे, इस बात की अभिव्यक्ति कवि ने उनकी चेष्टाओं का वर्णन कर दी है—

स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः।
जलाभिलाषी जलमाददानां छायेवतां भूपतिरन्वगच्छत्॥
(रघु० २/६)

अर्थात् जब नन्दिनी खड़ी हो जाती तो वे भी खड़े हो जाते, वह चलने लगती तो वे भी चल पड़ते, वह बैठ जाती तो वे भी बैठ जाते और जब वह जल पीती तो आप भी जलपान करते। इस प्रकार राजा दिलीप छाया की भाँति उसका अनुगमन करते थे। कैसा सुन्दर भावाग्राही चित्र खींच दिया है एक ही छोटे से श्लोक में दिलीप की अनन्य सेवा-भक्ति का! भाव चित्र सीधे मन तक उतर जाता है और दिलीप के भक्तिभाव की एक गहरी छाप छोड़ जाता है।

भाव तीव्रता के लिए विरोधी भावों की एकत्र योजना

किसी भाव को गहरा एवं स्थायी रंग देने के लिए कवि प्रायः परस्पर विरोधी भावों की एकत्र योजना करता है। जब एक ओर हम दिलीप के प्रताप, ऐश्वर्य और दिव्यगुणों की बात सुनते हैं।[1] और दूसरी ओर सन्तति के अभाव में गुरु वशिष्ठ के समक्ष अति आतुर भाव से उसे यह कहते सुनते हैं कि मेरे बाद पिण्ड और तर्पण की क्रिया का विच्छेद हो जाने के भय से मेरे पितर मेरे द्वारा दिये गये श्राद्ध के अन्न को भरपेट भी नहीं खा पाते होंगे। वे उसका आधा भाग बचाकर रख लेते होंगे। मेरे द्वारा दिये गये तर्पण के जल को गर्म-गर्म आहों से कोसा कर लेते होंगे।[2] आदि तो हमारा हृदय उस सन्तति-हीन दुखिया के प्रति करुणा और सहानुभूति से भर जाता है। यहाँ पर कवि ने इसके कारण अन्त तक अव्यक्त रखकर रचनाकौशल का भी अच्छा परिचय दिया है।

ऐसी ही स्थिति उत्पन्न की है पञ्चम सर्ग में भी। रघु सर्वस्व दक्षिण याग

---

१ रघु० १ १३–३०

२. नूनं मत्तः परं वंश्याः पिण्डविच्छेददर्शिनः।
न प्रकामभुजः श्राद्धे स्वधासंग्रहतत्पराः॥
मत्परं दुर्लभं मत्वा नूनमावर्जितं मया।
पयः पूर्वैः स्वनिश्वासैः कवोष्णमुपभुज्यते॥ (रघु० १।६६–६७)

सकी—यह भी तो उसके मन को और भी कचोट रहा था। क्षत्रिय होकर भी किसी शरण्य का 'क्षत से त्राण' नहीं कर पा रहा था। इस बात से उसे विशेष लज्जा का अनुभव हो रहा था। सिंह ने मानो उसके मन के इस भाव को उसके चेहरे पर पढ़ लिया और उसके मन के इसी भाव को दूर करने की भावना से उससे कहने लगा :

स त्वं निवर्तस्व विहाय लज्जां गुरोर्भवान् दर्शितशिष्यभक्तिः।
शस्त्रेणरक्ष्यं यदशक्यरक्षं न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति ॥

(रघु० २/४०)

सिंह यदि इससे पूर्व अपना परिचय उसे न दे चुका होता तो निश्चित था कि उसकी यह उक्ति जले में नमक की तरह उसे मर्मान्तिक पीड़ा पहुँचाती। परन्तु भगवान् शकर के प्रभाव के कारण वह अस्त्र प्रयोग नहीं कर पा रहा है इस बात को जानकर उसकी आत्मग्लानि कम हो गयी, उसे सिंह की यह बात विशेष रूप से चुभी नहीं। तो क्या एक इसी तर्क से उसके कर्तव्य की इतिश्री हो जाती है ? तर्क हमें निरुत्तर भले ही कर दे पर हमारी भावना को तो नहीं दबा सकता। किसी लक्ष्य की सिद्धि के लिए मन में निश्छल भावना चाहिए साधन तो अपने आप जुट जाते हैं। दिलीप के मन ने कहा—इतने से तेरा उत्तरदायित्व समाप्त नहीं हो जाता। अस्त्र से गाय की रक्षा नहीं कर सकता न सही पर क्या शरीर से भी उसकी रक्षा नहीं कर सकता ? सन्ततिहीन राजा के मन पर नन्दिनी के बछड़े का वह रूप उभर आया जोकि सायंकाल, माँ के आने की प्रतीक्षा के समय, हो जाया करता था। उसकी याद आते ही हृदय द्रवित हो उठा। और जब आज गाय लौटकर न जायेगी तो उसकी क्या हालत होगी इसकी तो कल्पना भी मानों उसके लिए असम्भव थी। हृदय की तरलता की दशा में अन्य सभी हथियारों को डालकर वह अपने अन्तिम और अचूक हथियार पर आ गया। और सीधे ही सिंह के सामने प्रस्ताव हुआ :

स त्वं मदीयेन शरीरवृत्तिं देहेन निर्वर्तयितुं प्रसीद।
दिनावसानोत्सुकबालवत्सा विसृज्यतां धेनुरियं महर्षेः ॥

(रघु० २/४५)

अर्थात् इस गाय को मारने में आपका स्वार्थ तो केवल इतना ही है न कि आप इससे अपने शरीर की भूख मिटाना चाहते हैं ? सो इस विषय में मेरा विनम्र प्रस्ताव है कि आप मेरे शरीर से अपनी भूख मिटा लीजिए और मुनि जी की

इस गाय को छोड़ दीजिए क्योंकि अब शाम होने वाली है और इसका बछड़ा बड़ी उत्सुकता से इसकी बाट जोह रहा होगा।'

राजा के इस कथन में करुणा तो सर्वोपरि है ही। पर एक बात जो विशेषरूप से सामने आती है वह है राजा का कर्तव्यभाव। राजा सन्तान के लिए स्वार्थवश नन्दिनी की सेवा-सुश्रूषा कर रहा था। पर भावावेश के इन क्षणों में एक क्षण को भी यह बात नहीं आयी कि यदि नन्दिनी को सिंह खा गया तो उसका तो कार्य ही असिद्ध हो जायेगा; सन्तति के अभाव में जिन पितरों का दुखड़ा उसने गुरु वशिष्ठ के सामने रोया था उसके इस प्रकार शरीर दान कर देने पर उनका क्या होगा, सुदक्षिणा का क्या होगा और अन्त में उस प्रजा का क्या होगा जिसका कि नियमन, भरण-पोषण आदि के कारण वही पिता है।[1] आवेश की स्थिति में मानवमन अन्य भावों से निरपेक्ष होकर किसी भाव विशेष में किस प्रकार वह निकलता है इस बात को कालिदास भली-भाँति जानते थे। अतः उन्होंने यहाँ भावान्तर को अवकाश ही नहीं दिया।

अब तक दिलीप ने जो कुछ कहा, वह भावावेश में किसी विशेष ध्येय के बिना भी कहा जाना सम्भव था। क्योंकि इसके अन्य पक्षों के विषय में सोचने का तो उसे अवसर ही नहीं मिल पाया था। अतः सिंह ने उसके समक्ष भावान्तर उपस्थित करना आवश्यक समझा। कालिदास ने यहाँ कुछ विशेष अभिप्राय से ही 'अर्थपति से बोला' (**अर्थपतिं बभाषे**) ऐसा प्रयोग किया है। राजा को याद दिलाने के लिए ही मानो कह रहा हो—'हे राजन् तुम्हारी बात को सुनकर तो मुझे ऐसा लग रहा है जैसे कि तुममें विवेकशक्ति रही ही नहीं, कुछ आगा-पीछा तो सोचकर बोलो। भला इससे बड़ा पागलपन और क्या हो सकता है कि आप एक छोटी सी चीज के लिए इतनी बड़ी राज्यशक्ति, ऐसी नौजवानी और ऐसे कमनीय शरीर को छोड़ देने पर उतारू हो गये हैं।[2] जरा सोचिए तो सही आप क्या करने जा रहे हैं ? एक गौ पर तो इतनी दया और उन लाखों प्रजाजनों की कोई परवाह नहीं जो कि आपको पिता की भाँति मानते हैं और आप उन्हें पुत्र की तरह पालते हैं। **'प्रजा प्रजानाथ पितेव**

---

१. प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्म हेतवः॥ (रघु० १/२४)

२. एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च।
अल्पस्यहेतोर्बहुहातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्॥ (रघु०२/४७)

पीती रही।[1] उपर्युक्त पृष्ठभूमि में जब हम इस चित्र को देखते हैं तो हमारे सम्मुख दिलीप और सुदक्षिणा के दाम्पत्य स्नेह की एक मधुर झाँकी प्रतिफलित हो उठती है। इस क्षणिक पति-वियोग ने ही कितना आकुल कर दिया है उस **'अपांसुलानां धुरिकीर्तनीया'** को और कितना स्नेह उमड़ पड़ा है उसकी आँखों में उस प्रिय पति के लिए जोकि उसकी गोद को हरी देखने के लिए इस प्रकार व्रती बनकर नन्दिनी के पीछे वन-वन घूम रहा है।

पृष्ठभूमि के साथ भावों का उभार

दिलीप-सिंह-सम्वाद में तो कवि ने नाटकीयता के साथ मनोभावों का जो निरूपण किया है वह अद्‌भुत है। सारा प्रकरण पढ़ते हुए ऐसा लगता है जैसे कि यह सब कुछ हमारे सामने एक रंगमंच पर घटित हो रहा है। दिलीप और सिंह के सबल व्यक्तित्त्व का चित्र सा खिंचता चला जाता है। हिमालय की उन अन्धकारभरी गुफाओं के बीच दिलीप ने अचानक उस नन्दिनी का आर्त्तस्वर सुना जिसके बारे में वह कभी कल्पना भी नहीं कर सकता था कि उस पर कोई हिंसक जन्तु प्रहार भी कर सकता है (**सा दुष्प्रधर्षा मनसापि हिंस्रैरिति०**)। घोड़े की लगाम की तरह झटका खाकर लौटी हुई दृष्टि ने जब नन्दिनी के ऊपर सिंह को झपटे हुए देखा तो वह तिलमिला उठा और एकदम हाथ तूणीर की ओर बढ़ा। पर यह क्या! वह तो वहीं बाण से ही चिपक गया। उस समय उसकी जो मनोदशा हुई उसका चित्रण कवि ने जिन शब्दों में किया उससे सुन्दर शायद हो भी नहीं सकता था।[2] मन्त्र और जड़ियों के द्वारा कीलित शक्ति वाले विषधर से उसकी तुलना करके कवि ने हमें उसकी मनोदशा के निकटतम रूप का दर्शन कराने की सफल चेष्टा की है।

इसके बाद सिंह ने उससे जो कुछ कहा उसमें सिंह के रौबदाब के साथ-साथ जो क्रूर-ध्वनि निकलती है वह बड़ी मार्मिक है। प्रतिहतशक्ति के कारण इस प्रकार तिलमिलाते हुए दिलीप को देखकर सिंह कहता है —

अलं महीपाल तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितोवृथास्यात्।
न पादपोन्मूलनशक्ति रंहः शिलोच्चये मूर्च्छतिमारुतस्य॥

(रघु० २/३४)

---

१. वशिष्ठधेनोरनुयायिनं तमावर्तमानं वनिता वनान्तात्।
पपौ निमेषालसपक्ष्मपङ्क्तिरुपोषिताभ्यामिव लोचनाभ्याम्॥ (रघु२/१९)

२. बाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धमन्युरभ्यर्णमागस्कृतमस्पृशद्भिः।
राजा स्वतेजोभिरदह्यतान्तर्भोगीव मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः॥ (रघु०२/३२)

लिए और क्या होगी ।[१] यहाँ तक तो हुई तर्क की बात ! पर दुनियाँ में सारे काम तर्क से ही नहीं हुआ करते हैं। तर्क की अपेक्षा भावना में अधिक बल होता है। हम किसी की भावना को उद्‌बुद्ध कराकर जो काम करा सकते हैं वह उसे तर्क वा बुद्धि से कायल करके नहीं। अतः राजा दिलीप ने भी तर्क को छोड़कर सिंह की भावना को उद्‌बुद्ध करने का यत्न किया। बोला—यदि आप किसी कारण से मेरे इस शरीर को अहिंस्य समझकर मुझे खाना नहीं चाहते तो मैं आपसे अनुरोध करता हूँ कि आप मेरे यश:शरीर की तो रक्षा करो। इस शरीर ने तो आखिर एक न एक दिन नष्ट हो ही जाना है। आप नहीं करेंगे तो और किसी प्रकार से हो जायेगा। इसलिए मुझे इस नश्वर शरीर का कोई मोह ही नहीं।[२] अतः एक मित्र की भाँति आप अपने हृदय से सोचिए तो सही कि मेरा अधिक कल्याण इस नाशवान् देह की रक्षा में है या अनन्तकाल तक अजर-अमर रहने वाले यश:शरीर में ?

दिलीप के मन-बुद्धि और हृदय की पूरी-पूरी तरह परीक्षा हो चुकी है। अतः सिंह उसके अनुरोध को मानने के लिए तैयार हो गया। कुशल कलाकार ने यहाँ इतने स्वाभाविक रूप में मनोभावों का चित्रण किया है कि उनका उतार-चढाव बराबर दिखाई देता है। सम्पूर्ण रूप से कर्तव्य-भावना, आत्म-त्याग और जीव रक्षा का जो भाव कवि ने इस प्रसंग में उभारा है, वह बड़ा ही जीवन्त है। विशेष रूप से कवि ने इस सम्वाद को जो नाटकीय रूप तथा मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि प्रदान की है उससे इसका रूप और भी अधिक निखर उठा है तथा इसका प्रभाव और भी गहरा हो जाता है। मनोभावों को भी इस स्पष्टता तथा वैज्ञानिकता के साथ उभारा गया है कि सहृदय पाठक स्वयं भी आत्म विस्मृत हो उसी में वह निकलता है।

वात्सल्य-भाव

तृतीय सर्ग में रघु की बालसुलभ चेष्टाएँ मन को मोह लेती हैं। बालक रघु जब कुछ बड़े हुए तो वे धाय के सिखाए हुए शब्दों को अपनी तोतली वाणी में दुहराते, उसकी अंगुली पकड़कर ठुमक-ठुमककर चलने की चेष्टा करते, सिर झुकाकर माँ-बाप को प्रणाम करते। उनकी इन बाल-चेष्टाओं

१, सेयं स्वदेहार्पणनिष्क्रमेण न्याय्या मया मोचयितुं भवत्तः।
न पारणा स्याद्विहता तवैवं भवेदलुप्तश्च मुनेः क्रियार्थः।। (रघु० २/५५)

२. किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशः शरीरे भव मे दयालुः।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु।। (रघु० २/५७)

पीती रही।[1] उपर्युक्त पृष्ठभूमि में जब हम इस चित्र को देखते हैं तो हमारे सम्मुख दिलीप और सुदक्षिणा के दाम्पत्य स्नेह की एक मधुर झाँकी प्रतिफलित हो उठती है। इस क्षणिक पति-वियोग ने ही कितना आकुल कर दिया है उस **'अपांसुलानां धुरिकीर्तनीया'** को और कितना स्नेह उमड़ पड़ा है उसकी आँखों में उस प्रिय पति के लिए जोकि उसकी गोद को हरी देखने के लिए इस प्रकार व्रती बनकर नन्दिनी के पीछे वन-वन घूम रहा है।

पृष्ठभूमि के साथ भावों का उभार

दिलीप-सिंह-सम्वाद में तो कवि ने नाटकीयता के साथ मनोभावों का जो निरूपण किया है वह अद्भुत है। सारा प्रकरण पढ़ते हुए ऐसा लगता है जैसे कि यह सब कुछ हमारे सामने एक रंगमंच पर घटित हो रहा है। दिलीप और सिंह के सबल व्यक्तित्त्व का चित्र सा खिचता चला जाता है। हिमालय की उन अन्धकारभरी गुफाओं के बीच दिलीप ने अचानक उस नन्दिनी का आर्त्तस्वर सुना जिसके बारे में वह कभी कल्पना भी नहीं कर सकता था कि उस पर कोई हिंसक जन्तु प्रहार भी कर सकता है (**सा दुष्प्रधर्षा मनसापि हिंस्रैरिति०**)। घोड़े की लगाम की तरह झटका खाकर लौटी हुई दृष्टि ने जब नन्दिनी के ऊपर सिंह को झपटे हुए देखा तो वह तिलमिला उठा और एकदम हाथ तूणीर की ओर बढ़ा। पर यह क्या! वह तो वहीं बाण से ही चिपक गया। उस समय उसकी जो मनोदशा हुई उसका चित्रण कवि ने जिन शब्दों में किया उससे सुन्दर शायद हो भी नहीं सकता था।[2] मन्त्र और जड़ियों के द्वारा कीलित शक्ति वाले विषधर से उसकी तुलना करके कवि ने हमें उसकी मनोदशा के निकटतम रूप का दर्शन कराने की सफल चेष्टा की है।

इसके बाद सिंह ने उससे जो कुछ कहा उसमें सिंह के रौबदाब के साथ-साथ जो क्रूर-ध्वनि निकलती है वह बड़ी मार्मिक है। प्रतिहतशक्ति के कारण इस प्रकार तिलमिलाते हुए दिलीप को देखकर सिंह कहता है —

अलं महीपाल तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितोवृथास्यात्।
न पादपोन्मूलनशक्ति रंहः शिलोच्चये मूर्च्छतिमारुतस्य॥

(रघु० २/३४)

---

१. वशिष्ठधेनोरनुयायिनं तमावर्तमानं वनिता वनान्तात्।
पपौ निमेपालसपक्ष्मपङ्क्तिरुपोषिताभ्यामिव लोचनाभ्याम्॥ (रघु२/१९)

२. बाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धमन्युरभ्यर्णमागस्कृतमस्पृशद्भिः।
राजा स्वतेजोभिरदह्यतान्तर्भोगीव मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः॥ (रघु०२/३२)

लिए और क्या होगी ।[1] यहाँ तक तो हुई तर्क की बात ! पर दुनियाँ में सारे काम तर्क से ही नहीं हुआ करते हैं। तर्क की अपेक्षा भावना में अधिक बल होता है। हम किसी की भावना को उद्बुद्ध कराकर जो काम करा सकते हैं वह उसे तर्क वा बुद्धि से कायल करके नहीं। अतः राजा दिलीप ने भी तर्क को छोड़कर सिंह की भावना को उद्बुद्ध करने का यत्न किया। बोला—यदि आप किसी कारण से मेरे इस शरीर को अहिंस्य समझकर मुझे खाना नहीं चाहते तो मैं आपसे अनुरोध करता हूँ कि आप मेरे यश:शरीर की तो रक्षा करो। इस शरीर ने तो आखिर एक न एक दिन नष्ट हो ही जाना है। आप नहीं करेंगे तो और किसी प्रकार से हो जायेगा। इसलिए मुझे इस नश्वर शरीर का कोई मोह ही नहीं।[2] अतः एक मित्र की भाँति आप अपने हृदय से सोचिए तो सही कि मेरा अधिक कल्याण इस नाशवान् देह की रक्षा में है या अनन्तकाल तक अजर-अमर रहने वाले यश:शरीर में ?

दिलीप के मन-बुद्धि और हृदय की पूरी-पूरी तरह परीक्षा हो चुकी है। अतः सिंह उसके अनुरोध को मानने के लिए तैयार हो गया। कुशल कलाकार ने यहाँ इतने स्वाभाविक रूप में मनोभावों का चित्रण किया है कि उनका उतार-चढाव बराबर दिखाई देता है। सम्पूर्ण रूप से कर्तव्य-भावना, आत्म-त्याग और जीव रक्षा का जो भाव कवि ने इस प्रसंग में उभारा है, वह बड़ा ही जीवन्त है। विशेष रूप से कवि ने इस सम्वाद को जो नाटकीय रूप तथा मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि प्रदान की है उससे इसका रूप और भी अधिक निखर उठा है तथा इसका प्रभाव और भी गहरा हो जाता है। मनोभावों को भी इस स्पष्टता तथा वैज्ञानिकता के साथ उभारा गया है कि सहृदय पाठक स्वयं भी आत्म विस्मृत हो उसी में बह निकलता है।

वात्सल्य-भाव

तृतीय सर्ग में रघु की बालसुलभ चेष्टाएँ मन को मोह लेती हैं। बालक रघु जब कुछ बड़े हुए तो वे धाय के सिखाए हुए शब्दों को अपनी तोतली वाणी में दुहराते, उसकी अंगुली पकड़कर ठुमक-ठुमककर चलने की चेष्टा करते, सिर झुकाकर माँ-बाप को प्रणाम करते। उनकी इन बाल-चेष्टाओं

---

१. सेयं स्वदेहार्पणनिष्क्रमेण न्याय्या मया मोचयितुं भवत्तः।
न पारणा स्याद्विहता तवैवं भवेदलुप्तश्च मुनेः क्रियार्थः।। (रघु० २/५५)

२. किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशः शरीरे भव मे दयालुः।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु।। (रघु० २/५७)

को देखकर राजा दिलीप फूले न समाते थे।[1] कालिदास की निरीक्षणदृष्टि बड़ी तीव्र थी। वह किसी भी ढेर में से पहली ही दृष्टि में उसके श्रेष्ठतम अंश को पहचान सकता है। बाल-जीवन की असंख्य लीलाएँ होती हैं। माँ-बाप को तो वे सभी प्यारी, मोहक ही लगती हैं। पर विश्लेषण करके देखा जाये तो वे केवल तीन ही श्रेणियों में आ जाती हैं। सुनीसुनाई ध्वनियों का तुतलाहट के साथ पुनरुत्पादन करना, स्वयं चलने की चेष्टा करना तथा माता-पिता के द्वारा सिखायी गयी शिक्षा का प्रदर्शन करना। बालक के माता-पिता जब बच्चे को तुतलाकर बोलने की चेष्टा करते हुए सुनते हैं, अथवा उसे घुटनों के बल वा सहारा लेकर चलने की चेष्टा करते हुए देखते हैं अथवा माता-पिता के द्वारा सिखाये गये 'नमस्कार', 'जयहिन्द', 'नमस्ते', 'टाटा', 'गुडमौर्निङ्ग' आदि की चेष्टाओं को दुहराते हुए देखते हैं तो उन्हें असीम आनन्द की अनुभूति होती है। उनका हृदय आनन्द से हिलोर लेने लगता है। सूक्ष्मदर्शी एवं मानव स्वभाव के परम पारखी कवि ने बाललीलाओं के दीर्घ वर्णन में न पड़कर उसके बालजीवन की तीन चेष्टाओं की ओर संकेत करके ही गागर में सागर भर दिया है। सूरदास जी ने सैकड़ों पद्यों में श्री कृष्ण की बाललीलाओं का वर्णन करके बाललीला के माधुर्य का जो सरस आभास कराया है वही कालिदास ने केवल एक पद्य से कर दिखाया। बोलने, चलने तथा चेष्टा करने से सम्बन्धित कैसी एक लीला और कैसी सैकड़ों लीलाएँ!

इतने दिनों की दीर्घ तपस्या, साधना और उत्कट अभिलाषा के बाद ऐसे तेजस्वी पुत्र को पाकर दिलीप को जिस आनन्द की अनुभूति हुई होगी वह तो अनिर्वचनीय ही होगा। महाकवि ने भी उसे अनिर्वचनीय ही रखकर केवल मात्र सहृदय पाठकों की अनुभूति के लिए छोड़ दिया है। हो भी क्यों नहीं, जब राजा दिलीप अपने शिशु-पुत्र को गोदी में लेते तो उसके स्पर्श से आनन्द-विभोर हो उठते। उन्हें ऐसा लगता जैसे कि उनके शरीर पर अमृत की फुहार बरस रही हो। वे आँखें बन्दकर उस अनिर्वचनीय आनन्द में डूब जाते।[2] महाकवि ने अपनी अलौकिक प्रतिभा से दिलीप के हृदयस्थ वात्सल्य का ऐसा जीवन्त निरूपण कर दिया जैसे कि स्वयं उसके हृदय में पैठकर उसकी अनुभूति को ही

---

१. उवाच धात्र्या प्रथमोदितं वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलिम्।
अभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः॥ (रघु० ३/२५)

२. तमङ्कमारोप्य शरीरयोगजैः सुखैर्निषिञ्चन्तमिवामृतं त्वचि।
उपान्तसंमीलितलोचनो नृपश्चिरात्सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ॥ (रघु० ३/२६)

अभिव्यक्ति दे दी हो।

शौर्य

अश्व-संरक्षण के प्रसङ्ग में वीर रघु ने इन्द्र को जो चुनौती दी है उसे सुनकर तो एक बार हमारे हृदय में भी दीप्ति का संचार हो जाता है। हमारा मस्तक गौरव से उन्नत हो उठता है जब हम देखते हैं कि एक मानव कुमार निर्भय रूप से हँसते हुए इन्द्र को ललकारकर कह रहा है— 'पुरंदर ! यदि आपने निश्चय कर लिया है कि आप अश्वमेध के घोड़े को वापस नहीं देंगे तो शस्त्र उठाइए और युद्ध के लिए तैयार हो जाइए। रघु को पराजित किए बिना आप उसका घोड़ा ले जायें यह सम्भव नहीं हो सकता।'[1] वीर पृथ्वी-पुत्र की वाणी से कितनी शक्ति, कितना ओज और कितना स्वाभिमान टपक रहा है। जरा कवि के 'पुरन्दर' शब्द के प्रयोग पर तो ध्यान दीजिए, वीर रघु किससे बातें कर रहा है, किसको ललकार रहा है। इन्द्र की महत्तम विनाशक शक्ति का ही परिचायक तो है न 'पुरन्दर' शब्द। पर आज एक मनु-पुत्र उसकी उस शक्ति को भी चुनौती दे रहा है।

भावों का संश्लिष्ट चित्रण

राज्यारोहण के उपरान्त रघु के चढ़ते हुए प्रताप का वर्णन कवि ने जिस ओज और उत्साह के साथ किया है वह भी हमारे मन पर एक गहरी छाप छोड़ जाता है।[2] शरद् वर्णन के बहाने बड़ी सुन्दर एवं संश्लिष्ट शैली में रघु के तेज, गौरव, लोक-प्रियता एवं राष्ट्रीय समृद्धि का मनोरम चित्र खींच दिया है। एक नमूना देखिए—शरद में धान की फसल पक चुकी है, कृषक बालाएँ समीपस्थ खेत में लगे हुए ऊँचे-ऊँचे ईख की छाया में बैठकर उनकी रखवाली करती हैं। और प्रजापालक महाराज रघु की बचपन से लेकर अब तक के क्रियाकलापों से सम्बद्ध कथाओं को मधुर गीतों की पंक्तियाँ बाँधकर बड़े अनुराग से गाती रहती हैं।[3] देखिए कैसा संश्लिष्ट चित्र है। शरद् वर्णन भी हो गया, शस्य की समृद्धि का भी आभास मिल गया। रघु के कार्यों की लोकप्रियता भी प्रकट हो गयी और इसी से प्रकट हो गया देश की सुख,

---

१. ततः प्रहस्यापभयः पुरंदरं पुनर्बभाषे तुरगस्य रक्षिता।
गृहाण शस्त्रं यदि सर्ग एष ते न खल्वनिर्जित्य रघुं कृती भवान्॥ (रघु० ३/५१)

२. द्रष्टव्य, रघु० ४/१–२५

३. इक्षुच्छायनिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्।
आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः॥ (रघु० ४/२०)

शान्ति और समृद्धि का भी रूप ।

स्थानीय रञ्जन के साथ भाव-चित्रण

रघु के दिग्विजय वर्णन में तो मानों एक-एक पद्य स्वयं में एक-एक नगीना है। प्रत्येक की अपनी अलग चमक और अलग रंग। देश के प्रत्येक भाग का निराला ही रूप है, और निराला ही रंग। कालिदास ने उनके ऐसे जीवन्त शब्द-चित्र खींचे हैं कि मानस-पटल पर अङ्कित हुए विना नहीं रह सकते ।

दिग्विजयी रघु विशालवाहिनी को लेकर वंग देश में पहुँचा तो उन्होंने जल युद्ध में रघु का सामना किया, टिक नहीं सके, झुकना पड़ा, पर रघु ने भी उन्हें परास्त करके, अपनी अधीनता स्वीकार कराकर पुनः उन्हीं के पदों पर प्रतिष्ठापित कर दिया। रघु के इस व्यवहार का उन पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे खूव अधिक उपहार लेकर रघु के चरणों में उपस्थित हुए। उनकी स्थिति एवं व्यवहार को वतलाने के लिए कवि को उसी प्रदेश की धान की खेती का उदाहरण मिल गया। चित्र सम्पूर्ण हो गया।[1] एक छोटे से अनुष्टुप् छन्द में निवद्ध पद्य में ही रघु की वंग पर विजय, वंग नरेश की पराजय, रघु द्वारा उसे पदभ्रष्ट करके पुनस्थापन, उसके द्वारा रघु को प्रभूत उपहार प्रदान, वंगाल में धान की खेती का वाहुल्य, उसे एक स्थान से उखाड़कर दूसरे स्थान पर लगाने से उपज में वृद्धि आदि वहुत सी वातें कह दी गई हैं ।

मलयाचल की तराइयों में मिर्च के वनों में रघु के सैनिकों से उद्भ्रान्त हारीत (४।४६), महेन्द्र पर्वत पर रघु के सैनिकों द्वारा पान के पत्तों के दोनों पर ताजे नारियल के जल का पान,[2] रघु के थके हुए घोड़ों द्वारा सिन्धु के तट पर केसर की क्यारियों में लोटनी लेना (४।६७) वंक्षु के तट पर अंगूर की बेलों के कुञ्जों में अंगूरी शराव का पान करके रघु के सैनिकों का युद्ध की थकान मिटाना (४।६५) आदि अनेक चित्र ऐसे हैं जो कि सदा के लिए पाठक के हृदय पर अपना स्थान वना लेते हैं ।

---

१. वंगानुत्खाय तरसा नेता नौसाधनोद्यतान् ।
निचखान जयस्तम्यान् गंगास्रोतोऽन्तरेषु सः ॥ (रघु० ४।३६)
आपादपद्मप्रणता कलभा इव ते रघुम् ।
फलैः संम्वर्धयामासुरुत्खातप्रतिरोपिताः ॥ (रघु० ४।३७)

२. ताम्बूलीनां दलैस्तत्र रचिताऽऽपानभूमयः ।
नारिकेलासवं योधाः शात्रवं च पपुर्यशः ॥ (रघु० ४।४२)

बिम्बग्राही भाव-चित्रण

'रघुवंश' का पञ्चम सर्ग तो भावचित्रों से भरा पड़ा है। प्रारम्भ में ही रघु-कौत्स का समस्त प्रकरण मन को एक अलौकिक भाव-जगत् का दर्शन कराकर मुग्ध कर डालता है। रेवा तट पर वन्य गज का चित्रण भी कम रमणीय नहीं। पर इसके अन्त में जाकर तो कालिदास की कलम ने कमाल ही कर दिया है। प्रातःकाल के समय कुमार अज को जगाने के लिए चारणों के द्वारा किया स्तुतिगान इतना मनोरम एवं भावपूर्ण है कि सहृदयों ने तो यहाँ तक कह डाला कि पद्य स्वयं वाग्देवी सरस्वती की रचना हैं। वस्तुतः यहाँ पर कवि ने भाव-सौन्दर्य की जो सृष्टि की है वह अनोखी है। महाकवि माघ ने प्रभात-वर्णन में शिशुपालवध का एक पूरा सर्ग ६७ पद्यों के साथ समाप्त कर दिया। पर फिर भी प्रभात का वह मधुर एवं बिम्बग्राही चित्रण उपस्थित नहीं कर सका जोकि कालिदास ने इन ५ श्लोकों में कर दिखाया है। विस्तारभय का भूत सिर पर सवार होने पर भी हम उस सौन्दर्य-राशि को यहाँ उपस्थित करने के लोभ का संवरण नहीं कर सकते। वन्दिगण कहने लगे :

रात्रिर्गता मतिमतां वर मुञ्च शय्यां
धात्रा द्विधैव ननु धूर्जगतो विभक्ता।
तामेकतस्तव बिभर्ति गुरुर्विनिद्र-
स्तस्या भवानपरधुर्यपदावलम्बी॥ (रघु० ५।६६)

(परमधीमन्! रात बीत गयी है; अब शय्या छोड़िए। ब्रह्मा ने इस समस्त पृथ्वी का भार दो भागों में विभक्त किया है। उसे एक तो तुम्हारे जागरूक पिता सम्भाले हुए हैं और दूसरी ओर का भार आप पर टिका हुआ है।)

निद्रावशेन भवताप्यनवेक्ष्यमाणा
पर्युत्सुकत्वमबला निशि खण्डितेव।
लक्ष्मीर्विनोदयति येन दिगन्तलम्बी
सोऽपि त्वदाननरुचिं विजहाति चन्द्रः॥ (रघु० ५।६७)

(देखो, तुम्हें निद्रारूपी नायिका के वश में हुआ देखकर तुम्हारे मुख की सौन्दर्यलक्ष्मी खण्डिता-नायिका की भाँति रूठकर तुम्हारे मुख की सी शोभा धारण करने वाले चाँद को देख-देखकर रात बिताती रही। पर अब तो वह चाँद भी डूबने को तैयार है, अतः जागिए और बेसहारा होती हुई मुखशोभा

को सहारा दीजिए।)

तद्वल्गुना युगपदुन्मिषितेन तावत्
सद्यः परस्परतुलामधिरोहतां द्वे।
प्रस्पन्दमानपरुषेतरतारमन्त-
श्चक्षुस्तव प्रचलितभ्रमरं च पद्मम् ॥ (रघु ५।६८)

(आपकी बन्द पलकों के भीतर आँखों की पुतलियाँ गतिमान् हो रही हैं और कमलकोषों के भीतर बन्द पड़े भौंरें भी गतिशील हो उठे हैं। सूर्य उदित होने वाला है। अतः इस समय आप अपने नेत्र खोलें तो आपके नेत्रों की शोभा कमल सी और कमलों की शोभा आपके नेत्रों सी हो जायेगी।)

ताम्रोदरेषु पतितं तरुपल्लवेषु-
निर्धौतहारगुलिकाविशदं हिमाम्भः।
आभाति लब्धपरभागतयाधरोष्ठे,
लीलास्मितं सदशनार्चिरिव त्वदीयम् ॥ (रघु० ५।७०)

वृक्षों के लाल-लाल पल्लवों पर गिरे हुए ये मोती से निर्मल ओस के कण ऐसे ही मोहक लग रहे हैं जैसे कि तुम्हारी मधुर मुस्कान के समय तुम्हारे आरक्त होठों पर पड़ने वाली तुम्हारी दन्तपक्ति की आभा सुन्दर लगती है।)

भवति विरलभक्तिम्र्लानपुष्पोपहारः
स्वकिरणपरिवेषोद्भेदशून्याः प्रदीपाः।
अयमपि च गिरं नस्त्वत्प्रबोधप्रयुक्ता-
मनुवदति शुकस्ते मञ्जुवाक् पञ्जरस्थः ॥ (रघु० ५।७४)

(रात की सजावट की माला के फूल कुम्हला जाने से विरल हो गये हैं। प्रातः काल का प्रकाश फैल जाने के कारण अब शयनागार के दीपों का प्रकाश भी निस्तेज हुआ जा रहा है। यह पिंजड़े में बैठा हुआ मधुरभाषी सुग्गा हमारी उस विरुदावलि को दुहरा रहा है जोकि हम वन्दीजन आपको जगाने के लिए कर रहे हैं।)

यह वर्णन स्वयं में कितना भावपूर्ण है इसे बतलाने की शायद आवश्यकता नहीं। इसके शब्द-सौन्दर्य का आनन्द तो केवल मूल रूप में ही लिया जा सकता है। अनुवाद में तो वह आ ही नहीं सकता। अनुवाद में तो भाव भी सम्पूर्ण रूप से नहीं आ सकता फिर भाषासौष्ठव तो आ ही कैसे सकता है?

इन्दुमती-स्वयंवर-वर्णन में तो कालिदास ने भावचित्रों की झड़ी लगा दी है। एक सधे हुए कलाकार की भाँति उसकी लेखनी-तूलिका जिधर को उठी है, उधर ही एक नवीन चित्र की सृष्टि कर डाली है। एक से एक बढ़कर और

एक से एक सुन्दर। यह एक ऐसी एल्बम है जिसमें प्रत्येक चित्र अपनी पृष्ठ-भूमि के साथ चमक उठता है।[1]

अज-दर्शनोत्सुक विदर्भ नारियों के चित्रण तथा अज-राजन्य-युद्ध के प्रसंग में भी कुछ सुन्दर भावचित्र कवि की लेखनी से उभरे हैं।[2] ग्रन्थविस्तारभय से उन पर विचार कर सकना यहाँ सम्भव नहीं।

कारुण्य का चित्रण

भाव-व्यञ्जना की दृष्टि से इसके वाद सवसे अधिक हृदय को प्रभावित करने वाला चित्रण है अष्टम सर्ग का अज-विलाप। व्यञ्जना के आचार्य कवि ने वास्तविक विरह और शोक की स्थिति सामने लाने से पूर्व ही पाठकों को उसका सुन्दर आभास करा दिया है। 'वेगवान् मरुत' के द्वारा नारद की वीणा के सिरे से स्वर्गीय पुष्पों की माला के हरण के वाद भी फूलों पर लगे हुए भौरों की पंक्ति को सुगन्धि के कारण वीणा के आस-पास मँडराते देखकर उनकी वीणा के काजल मिली हुई अश्रुधारा के रूप में उत्प्रेक्षा करने का भाव वड़ा ही विम्वग्राही है।[3]

इन्दुमती को गोद में रखकर अज ने अधीरतापूर्वक गद्‌गद् कण्ठ जो विलाप किया वह संस्कृत साहित्य में अपूर्व है। समस्त संस्कृत-साहित्य में पुरुष के प्रणय को इससे अधिक भावुक अभिव्यक्ति नहीं मिल सकी है।

---

१. द्रष्टव्य रघु० सर्ग ६।२४, २६, २८, २९, ३२, ३५, ४३, ४८, ५०—५२, ५५, ६०, ६३, ६४, ६५, ६७, ६९, ७५, ८१, ८२, ८५। दो एक उक्तियाँ देखिए—

(i) पाण्डय नरेश के परिवेश में —

इन्दीवरश्यामतनुर्नृपोऽसौ त्वं रोचनागौरशरीरयष्टिः।
अन्योन्यशोभापरिवृद्धये वां योगस्तडित्तोयदयोरिवास्तु॥

(ii) दिलीप के शासन का गौरव—

यस्मिन् महीं शासति वाणिनीनां निद्रां विहारार्धपथे गतानाम्।
वातोऽपि नास्रंसयदंशुकानि को लम्वयेदाहरणाय हस्तम्॥

(iii) अज के सौन्दर्य पर रीझी हुई एवं भाव विभोर इन्दुमती से सखी सुनन्दा का प्रणय भरा परिहास—

तथा गतायां परिहासपूर्वं सख्यां सखी वेत्रभृदावभाषे।
आर्ये व्रजामोऽन्यतइत्यथैनां वधूरसूया कुटिलं ददर्श॥

२. द्रष्टव्य—रघु० ७।५—१५; ३५—७०

३. भ्रमरैः कुसुमानुसारिभिः परिकीर्णा परिवादिनी मुनेः।
ददृशे पवनावलेपजं सृजती वाष्पमिवाञ्जनाविलम्॥ (रघु० ८।३५)

कालिदास के कथानायक रघुवंश के जीवन में 'अज' को ही उसने प्रणय के आदर्श प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया है। कुछ आलोचकों को 'अज-विलाप' 'रति-विलाप' तुलना में हीन लगता है। उनकी दृष्टि में पुरुषपात्र में ऐसी मानसिक दुर्बलता दिखलाकर कालिदास ने उचित नहीं किया है। इसलिए अज के प्रति उनकी सहानुभूति भी पूरी तरह जागृत नहीं हो सकी है।[१] पता नहीं ऐसे लोग प्रणय को तथा पुरुष हृदय को क्या समझते हैं? जब आपको सामान्य जगत् में कालिदास का रघु नहीं मिल सकता, दिलीप नहीं मिल सकता, इन्दुमती नहीं मिल सकती, पुरुरवा नहीं मिल सकता, शकुन्तला नहीं मिल सकती, पार्वती नहीं मिल सकती, यक्ष नहीं मिल सकता तो फिर अज को ही ढूंढने का प्रयत्न क्यों करते हैं? समझ लीजिए, अज पुरुष प्रेम की उच्चतम भावना है जिसे कि कालिदास प्रस्तुत कर सका है। ऐसा प्रेमी न कोई और हुआ है और न कोई होगा ही। संसार के प्रणयी पुरुष उस दूरस्थ सीमा रेखा की ओर सदा सतृष्ण नेत्रों से देखते रहेंगे और उसे पाने के लिए कदम बढ़ाते रहेंगे। लगता है कालिदास को आने वाले व्यवसायी युग के लोगों की यह आपत्ति दीख रही थी। इसीलिए अज के भाव विभोर होकर रुदन करने की बात के साथ ही उसने कह दिया कि अत्यधिक तपाये जाने पर तो लोहा भी पिघल उठता है फिर यह तो धड़कनशील मानव हृदय है, वह क्यों न पिघलेगा।[२] लौह युग के लोगों के लिए इससे बढ़िया उदाहरण और हो भी क्या सकता था?

इसके बाद तो अज की भावनाओं में जो उफान आया है वह सहृदय पाठक के हृदय को निरन्तर डुबाता जाता है। बस यही कहने को जी करता है—

---

1. "It is fine poetry, but it suffers by comparison with the corresponding Rati Vilapa in Kum. IV. It is more natural in a woman, as being the weaker sex, to indulge in lemantation, while when a man grieves in is a sign of weakness which does not enlist our sympathy so much : the poet has, therefore, better succeeded in portraying a lemanting Rati". (M. R. Kale Intro. to his ed. of रघु० P. xxxii.

२. विललाप स वाष्पगद्गदं सहजामप्यपहाय धीरताम्।
अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिणाम्॥ (रघु० ८।४३)

'अनबूड़े बूड़े तिरे जे बूड़े सब अंग'। हृदय हाहाकार कर उठता है।[1]

कितना भावुक था अज का प्रणयी हृदय! कितनी हृदयस्पर्शी वेदना टपकती है उनके इन शब्दों से! मृत प्रेयसी के दाह-संस्कार का स्मरण आते ही सिहर उठती है उनकी आत्मा इस विचार-मात्र से ही कि उस कुसुमाङ्गी इन्दुमती का शरीर जो कि कोमल पल्लवों के बिछौने पर भी दुखने लगता था कठोर काष्ठ की चिता पर कैसे लेट सकेगा।[2] प्रणय का उन्माद ऐसा ही होता है। इसे ही कहते हैं प्यार। जो विवेकहीन न बना दे, वह प्यार कैसा?

एक और कोमल भाव देखिए। अज की दृष्टि जब सामने ही उस अशोक वृक्ष पर जाती है जिसका कि रानी इन्दुमती ने अपने वामपाद के आघात से दोहद सम्पन्न किया था तो उसका शोक और उमड़ पड़ता है। वह भाव-विह्वल हो उठता है। ठीक भी है, इस अशोक के जिन फूलों से वह प्रिया के अलकों को अलकृत करता उन्हें अब वह उसके तर्पण के जल के साथ कैसे रखेगा।[3] क्या उसकी आँखें इस दृश्य को देख सकेंगी? क्या इसे देखकर उसका हृदय विदीर्ण न हो जायेगा? वाह री विधि विडम्बना!

ठीक ही है आज से प्रणयी-अज के जीवन से धैर्य, आनन्द, संगीत, उत्सव, अलंकरण, शयन सब कुछ समाप्त हो गया। क्योंकि निर्दयी मृत्यु ने उससे उसकी गृहिणी, सलाहकार, सखी, प्रियशिष्या सभी को छीन लिया।[4] ऐसे बदकिस्मत कोशलनरेश को प्रिया के आत्यन्तिक वियोग में अपने हृदय के

---

१. कुसुमान्यऽपि गात्रसंगमात् प्रभवन्त्यायुरपोहितुं यदि।
न भविष्यति हन्त साधनं किमिवान्यत् प्रहरिष्यता विधेः॥ (रघु० ८।४४)
स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम्।
विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया॥ (रघु० ८।४६)
अथवा मम भाग्यविप्लवादशनिः कल्पित एष वेधसा।
यदनेन तरुर्न पातितः क्षपिता तद्विटपाश्रिता लता॥ (रघु० ८।४७)

२. नवपल्लवसंस्तरेऽपि ते मृदु दूयेत यदङ्गमर्पितम्।
तदिदं विषहिष्यते कथं वद वामोरु! चिताधिरोहणम्॥ (रघु० ८।५७)

३. कुसुमं कृतदोहदस्त्वया यदशोकोऽयमुदीरयिष्यति।
अलमाभरणं कथं नु तत्तव नेष्यामि निवापमाल्यताम्॥ (रघु० ८।६२)

४. धृतिरस्तमिता रतिच्युता विरतं गेयमृतुर्निरुत्सवः।
गतमाभरणप्रयोजनं परिशून्यं शयनीयमद्य मे॥ (रघु० ८।६६)
गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम्॥ (रघु० ८।६७)

टुकड़ों को पागलों की तरह से इधर-उधर बिखेरते देखकर यदि उपवन के वृक्ष भी आँसू बहाने लगें तो आश्चर्य भी क्या ?[१] विधाता ने अज के साथ बड़ा ही क्रूर खिलवाड़ किया। वह या तो उसे ऐसा प्रणयी हृदय ही न देता या उसके भाग्य में यह अप्रत्याशित अनभ्र वज्रपात ही न लिखता। फिर भी यदि आज का आलोचक उसके साथ सहानुभूति प्रकट नहीं कर सकता तो इसे उसका जन्मान्तर का दुर्भाग्य ही कहा जायेगा। ऐसे हृदयहीन आलोचकों से तो साकेत की वे नारियाँ ही अधिक प्रशंसनीय हैं जोकि प्रेयसी वियोग के कारण प्रातःकालीन चन्द्रमा के समान कान्तिहीन अज को देखकर इस कदर रोईं थीं कि आँसुओं के नाले बह चले थे।[२] धन्य है महाकवि की लेखनी को जिसने इतने विक्षिप्त करने वाले शोक और सन्ताप के के बीच में भी इस प्रणयी पुरुष की आँसुओं से गीली कहानी को लिख दिया। शायद ऐसे ही व्यक्तियों को सामने रखकर तो भवभूति ने कहा होगा—

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति ॥

दार्शनिक भाव-चित्रण

इसके बाद तो इस सर्ग के अन्त में कवि ने दार्शनिक भावों की जो गूढ़ व्यञ्जना कराई है उसके बारे में तो यही कहना उचित होगा—'अरथ अमित अति आखर थोरे'। जीवन और मृत्यु के समस्त रहस्य को कवि ने केवल प्रकृति और विकृति इन दो शब्दों में बाँधकर रख दिया है। गुरु वशिष्ठ का संदेशवाहक शिष्य कहता है— विद्वानों का कहना है कि इस सृष्टि में जिसने यह पञ्चभौतिक चोला पाया है उसको यह छोड़ना तो निश्चित ही है। यही स्वाभाविक रूप भी है। उस प्रकृति का विकार तो है जीवित रहना। इसलिए प्राणी जितने क्षण भी जी जाये उसे ही उसे जीवन का लाभ समझना चाहिए।"[३] शोकसन्तप्त मानव को शायद इससे बढ़कर सान्त्वना और श्रेय का उपदेश नहीं दिया गया।

---

१. विलपन्निति कोशलाधिपः करुणार्थग्रथितं प्रियां प्रति।
अकरोत् पृथिवीरुहानपि स्रुतशाखारसबाष्पदूषितान् ॥ (रघु० ८।७०)

२. स विसेश पुरीं तया विना क्षणदापाय शशाङ्कदर्शनः।
परिवाहमिवावलोकयन् स्वशुचः पौरवधूमुखाश्रुषु ॥ (रघु० ८।७४)

३. मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः।
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन् यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ ॥ (रघु० ८।८७)

भाव–संघर्ष

आदर्शवादी महाकवि ने यहाँ पर फिर एक बार प्रेम और कर्तव्य का तुमुल संघर्ष दिखाया है। वह जानता है कि शोक सन्तप्त अनुरागी हृदय पर उपदेश का असर नहीं हो सकता। उसने इसे साफ शब्दों में कह भी दिया कि उसने गुरु वशिष्ठ के शिष्य के साथ ही उनके उपदेश को लौटा दिया।[1] पर इतने से ही वह जैसा चाहे वैसा करने के लिए स्वतन्त्र नहीं हो जाता। वह मरना चाहकर भी मर नहीं सकता, क्योंकि कर्त्तव्य की ऐसी ही माँग है। वह प्रेमी ही नहीं राजा भी है और है पिता भी। राजा की असली पत्नी तो पृथ्वी है, कर्त्तव्य की पुकार है कि वह उसकी रक्षा करे, साथ ही एक पिता के नाते कर्त्तव्य की यह भी माँग है कि वह उस शिशु की तब तक रक्षा-दीक्षा करे जब तक कि वह राज्य-व्यवस्था को चलाने में कुशल तथा उसके भार को सहन करने में समक्ष न हो जाए। इस संघर्ष में 'व्यष्टि' के लाभ के समक्ष 'समष्टि' के लाभ की जीत हुई। 'प्रियानुगमन' के लिए 'त्वर-गाण' होने पर भी उसे कर्त्तव्य की पुकार पर किसी प्रकार आठ वर्ष तक प्रणय की धूनी रमाते हुए 'जीवन का लाभ' चाहे अनचाहे उठाना ही पड़ा और फिर कर्त्तव्य की समाप्ति पर 'प्रायोपवेशन' के द्वारा अपनी कान्ता के पास नन्दनवन के 'लीलागारों' में जा रमा।[2] समस्त प्रकरण में विचारों की प्रौढ़ता एवं भावनाओं की परिपक्वता दर्शनीय है।

प्रेम और कर्त्तव्य की यही कहानी दुहराई गयी है रघु के चौदहवें सर्ग में भी। नाटककार भवभूति के समान ही महाकवि ने सीता परित्याग के महाविस्फोट को अधिकतम तीव्रता प्रदान करने के लिए पहले सीता और राम के जीवन की मधुर झाँकी उपस्थित की। एक दूसरे के प्रति अगाध स्नेह और विश्वास का भाव दिखलाया।[3] और ठीक इसके बाद ही 'कलत्रनिन्दा' का वह क्रूर सन्देश सुनवाया जिसके आघात से वैदेही को प्राण समान प्यार करने वाले राम का हृदय ऐसे ही टुकड़े-टुकड़े हो गया जैसे कि भारी घन की चोट से तपा

---

१. स तथेति विनेतुरुदारमतेः प्रतिगृह्य वचो विससर्ज मुनिम्।
तदलब्धपदं हृदि शोकघने प्रतियातमिवान्तिकमस्य गुरोः॥ (रघु० ८।९१)

२. द्रष्टव्य—रघु० सर्ग ८

३. द्रष्टव्य—रघु० सर्ग १४/२५–२७॥
तामङ्कमारोप्य कृशाङ्गयष्टिं वर्णान्तराक्रान्तपयोधराग्राम्।
विडम्बयमानां रहसि प्रतीतः पप्रच्छ रामां रमणोऽभिलाषम्॥ (रघु०१४/२७)

हुआ लोहा फट जाता है।[1] 'वैदेहिबन्धोर्हृदयं विदद्रे' में तो कवि ने भावाभिव्यक्ति एवं शब्दप्रयोग में कमाल कर दिया है। 'विदद्रे' में तो 'दर दर' के शब्द के साथ हृदय के फटने की ध्वनि स्पष्ट सुनाई देने लगती है। बस, राम के हृदय में प्रेम और कर्त्तव्य की ऐसी खींचातानी मची कि वह झूले की तरह इधर से धक्का खाकर उधर जाता और उधर से इधर आता। एक ओर भयंकर बदनामी थी और दूसरी ओर निर्दोष पत्नी का क्रूर परित्याग।[2] अन्त में प्रजा-रंजन के कर्त्तव्य का पलड़ा भारी हो गया और मर्यादापुरुषोत्तम ने निर्दोष प्रिया का त्याग करके भी मर्यादा का पालन किया।[3]

उदात्त भाव का चित्रण

नवम सर्ग के प्रारम्भ में कालिदास ने दशरथ का जो महामहिम चरित्र अंकित किया है उसे पढ़कर आज भी हमारा हृदय फड़क उठता है और हमारा मस्तक गौरव से ऊँचा हो जाता है।[4] कितनी मनस्वी थे हमारे वे पूर्वज जिन्होंने कभी दीनभाव से इन्द्र तक को सिर नहीं झुकाया। कितना महान् था उनका चरित्र कि हँसी में भी कभी झूठ नहीं बोला और व्यक्तित्व ऐसा कि कभी शत्रु के लिए भी मुख से कठोर शब्द नहीं निकाला।[5] ऐसे ही मान-धनी के लिए तो कविवर तुलसीदास ने भी 'प्राण जाय पर वचन न जाई' कहा था।

चित्रात्मक भाव-चित्रण

इसी सर्ग में महाकवि ने वसन्तावतार का जो रूप चित्रित किया है वह बड़ा ही भावपूर्ण एवं लुभावना है।[6] एक ही पद्य में वसन्त के समस्त रूप संभार का इस खूबी के साथ अवतरण करा दिया है कि देखते ही बनता है। चित्रपट पर विद्युद्योग से प्रकट होने वाले चित्र की भाँति वनस्थली में लता-

---

१. कलत्रनिन्दागुरुणा किलैवमभ्याहतं कीर्तिविपर्ययेण।
अयोघनेनाय इवाभितप्तं वैदेहिबन्धोर्हृदयं विदद्रे॥ (रघु०१४/३३)

२. किमात्मनिर्वादकथामुपेक्षे जायामदोषामुत संत्यजामि।
इत्येकपक्षाश्रयविक्लवत्वादासीत्स दोलाचलचित्तवृत्तिः॥ (रघु०१४/३४)

३. निश्चित्यचानन्यनिवृत्तिवाच्यं त्यागेन पत्न्या परिमार्ष्टुमैच्छत्।
अपिस्वदेहात् किमुतेन्द्रियार्थाद्यशोधनानां हि यशो गरीयः॥ (रघु०१४/३५)

४. द्रष्टव्य—रघु० ९/१–२३

५. न कृपणा प्रभवत्यपि वासवे न वितथापरिहासकथास्वपि।
न च सपत्नजनेष्वपि तेन वागपरुषा परुषाक्षरमीरिता॥ (रघु०९/८)

६. द्रष्टव्य—रघु० ९/२३–४८॥

वृक्षों पर फूल खिले, नई कोपलें फूटीं, भौंरे गूँजे और कोयलें कूजने लगीं। बस एकत्रित हो गया नववसन्त का संभार।[1] एक के वाद एक रंग को गूढ़ा करता गया, चित्र चमक उठा। और तो और लता-नायिकाएँ भी इस मादक वातावरण से उन्मादिनी होकर मधुर गुञ्जन से गुनगुना उठीं, मुस्करा उठीं और तरह-तरह की भावाभिव्यक्ति में लीन हो गयीं।[2] यहाँ पर कवि ने लता में नायिका का आरोप करके जो मधुर व्यञ्जना की है वह दर्शनीय है।

प्रेम और आत्मोत्सर्ग की अपूर्व भावना

इसके वाद मृगयाविनोदी दशरथ का अहेरी रूप कवि ने चुने हुए शब्दों एवं भावों में चित्रित किया है। इसका भी एक मधुरतम भाव देखिए—राजा दशरथ ने एक काले मृग पर अपना लक्ष्य साधा, पर अगले ही क्षण देखा कि उसकी स्नेहकातरा मृगी स्वयं वाण का लक्ष्य बनकर मृग को बचाने के लिए मृग और उनके वाण के बीच में आकर खड़ी हो गयी है। इसे देखकर प्रेमी दशरथ का हृदय द्रवित हो गया और उन्होंने वाण उतार लिया।[3]

कितनी हृदयस्पर्शी है प्रिय के लिए आत्मत्याग की यह उदात्त भावना! आज के युग में जब हम सभ्य कहलाने वाले मानवों में पति-पत्नी के बीच कर्त्तव्य और अधिकारों की खींचातानी में स्वार्थ का नंगा नाच देखते हैं और उधर पशु जीवन में भी आत्मवलिदान की यह भावना देखते हैं तो हमारा सिर लज्जा से झुक जाता है।

विविध भाव-चित्रण

श्रवणकुमार-वध प्रसंग में महाराज दशरथ की वह उक्ति कितनी मार्मिक हैं जिसमें कि वे श्रवण के माता-पिता द्वारा अभिशप्त होने पर कहते हैं—मुनिवर! आपने पुत्रवियोग में मृत्यु का शाप देकर मेरे ऊपर अनुकम्पा ही की है क्योंकि कम से कम इस शाप की सफलता के वहाने ही सही, मुझे पुत्र का मुख देखने का तो अवसर मिलेगा। सच है जंगल की आग भूमि को जलाती

---

१. कुसुमजन्म ततो नयपल्लवास्तदनु षट्पदकोकिलकूजितम्।
इति यथाक्रममाविरभून्मधुद्रुमवतीमवीर्य वनस्थलीम्॥ (रघु० ६/२६)

२. श्रुतिसुखभ्रमरस्वनगीतयः कुसुमकोमलदन्तरुचो वभुः।
उपवनान्तलताः पवनाहतैः किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः॥ (रघु० ६/३५)

३. लक्ष्यीकृतस्य हरिणस्य हरिप्रभावः प्रेक्ष्यस्थितां सहचरीं व्यवधाय देहम्।
आकर्णकृष्टमपि कामितया स धन्वी बाणं कृपामृदुमनाः प्रतिसंजहार॥
(रघु०६/५७)

जरूर है पर ऐसा करके वह उसे और अधिक उपजाऊ बना डालती है।[१]

इसके बाद दशम सर्ग में कालिदास ने दार्शनिक, आध्यात्मिक तथा धार्मिक भावों की जो त्रिवेणी बहाई है वह स्वयं में इतनी वेगवती है कि उसके प्रवाह में कालिदास पर किया गया कोरी शृङ्गारिकता का सारा आक्षेप वह जाता है।[२]

ग्यारहवें सर्ग में राम-परशुराम-संवाद के बाद राम के बढ़ते हुए एवं परशुराम के घटते हुए तेज का निरूपण भी बहुत सुन्दर ढंग से हुआ है। दोनों ही तेज:स्वरूप हैं पर समय का प्रभाव कि कभी कोई घटता एवं बढ़ता है तो कभी कोई। इस समय वे दोनों संध्याकालीन सूर्य और चन्द्र की तरह लग रहे थे। परशुराम जी यद्यपि सूर्य के समान तेजस्वी थे पर अब राम के तेज के उदय का अवसर था, अत: वह मन्द पड़ गया।[३] यहाँ पर परशुराम जी की उक्तियों में कठोर भावों की भी व्यञ्जना अच्छी हुई है। यद्यपि भाषा उतनी कठोर नहीं हो पाई है जितनी कठोर कि भावशृंखला। राम-रावण-युद्ध में भी जब रावण यह कहकर घर से निकलता है कि 'आज संसार में या तो राम नहीं रहेगा या रावण नहीं रहेगा' तो उसमें उसके हृदय के दर्प और उत्साह की स्पष्ट अभिव्यक्ति देखी जाती है।[४]

वियोग और शृङ्गार

तेरहवाँ सर्ग तो पुन: भाव-सौन्दर्य का भण्डार है। राम की वाणी से भारत के प्राकृतिक सौन्दर्य के तथा अपने वन्य जीवन के अनेक अविस्मरणीय भावचित्र इस सर्ग में उभरे हैं। दो-एक चित्र देखिये— राम जानकीजी को विमान से एक स्थान का संकेत करते हुए कहते हैं 'प्रिये ! देखो यह वही स्थान है जहाँ पर तुम्हें खोजते हुए मैंने भूमि पर खड़ा हुआ तुम्हारा एक नूपुर देखा था जोकि मानों कि तुम्हारे चरणारविन्द से विमुक्त होने के दु:ख

---

१ शापोऽप्यदृष्टतनयाननपद्मशोभे सानुग्रहो भगवता मयि पतितोऽयम्।
कृष्यां दहन्नपि खल क्षितिमिन्धनेद्धो बीज प्ररोहजननीं ज्वलन: करोति ॥
(रघु० ९।८०)

२. द्रष्टव्य-रघु० सर्ग १०।१६—३२

३. तावुभावपि परस्परहरस्थितौ वर्धमान परिहीनतेजसौ।
पश्यति स्म जनता दिनात्यये पार्वणौ शशिदिवाकराविव ॥
(रघु० ११।८२)

४. निर्ययावथ पौलस्त्य: पुनर्युद्धायमन्दिरात्।
अरावणमरामं वा जगदद्येति निश्चित: ॥ (रघु० १२।८३)

के कारण ही मौन पड़ा हुआ था ।"[1] विरह संतप्त हृदय कैसी करुण वेदना टपक रही है राम के इस कथन से !

इसके बाद सीता-वियोग राम की दयनीय दशा का एक दयनीय चित्र है जोकि लक्ष्मण की ही भाँति सहृदय पाठक को साश्रु करने की सामर्थ्य रखता है। वियोगी राम जब विरहोन्माद में गुच्छों वाली अशोकलता को ही सीता-बुद्धि से आलिंगन करने को उद्यत हो गये तो लक्ष्मण को उनके पागलपन को देखकर रोना आ गया था ।[2]

पर साथ ही राम को अपने पञ्चवटी-जीवन के वे दिन भी नहीं भूले हैं जबकि वे शिकार से थककर आते थे और एकान्त वेतसकुञ्ज में सीता जी की गोद में सिर रखकर सो जाते थे। सीताजी की स्नेहभरी गोद और गोदावरी की शीतल वायु थोड़ी ही देर में उनकी सारी थकान को दूर कर डालती थीं ।[3] दाम्पत्य स्नेह और विश्वास की कैसी मधुर झाँकी उपस्थित की है कवि ने यहाँ राम के संस्मरण में ! ऐसे ही त्रिवेणी संगम का सौन्दर्य-चित्रण एवं भरत मिलाप की भावविभोरता भी दर्शनीय है ।[4]

प्रेम और कर्त्तव्य

चतुर्दश सर्ग में कालिदास ने रघुवंश के पिछले तीन सर्गों की भावव्यञ्जना की कमी को पूरा कर दिया है। सीता-परित्याग के प्रश्न पर राम के हृदय में जो संघर्ष उत्पन्न हुआ है और राम के कर्त्तव्यभार से दबे हुए हृदय से करुण भावना का जो प्रवाह प्रवाहित हुआ है वह कालिदास के सहृदय पाठक के हृदय को भी आप्लावित किये बिना नहीं रहता। कितनी व्यथा व्यक्त होती है राम के इन शब्दों में :

अवैमि चैनामनघेति किन्तु लोकापवादो बलवान् मतो मे ।

\+ + + +

---

१. सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम् ।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्द विश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम् ।। (रघु० १३।२३)

२. इमां तटाशोकलतां च तन्वीं स्तनाभिरामस्तबकाभिनम्राम् ।
त्वत्प्राप्तिबुद्धया परिरब्धुकामः सौमित्रिणा साश्रु रहं निषिद्धः ।। (रघु० १३।३२)

३. अत्रानुगोदं मृगयानिवृत्तस्तरंगवातेन विनीतखेदः ।
रहस्त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्ध्ना स्मरामि वानीर गृहेषु सुप्तः ।। (रघु० १३।३५)

४. द्रष्टव्य-सर्ग १३।५४—५७, ७०—७३ और ७८ ।।

तदेष सर्गः करुणार्द्रचित्तैर्न मे भवद्भिः प्रतिषेधनीय।
यद्यार्थिता निर्वृतवाच्यशल्यान्प्राणान्मया धारयितुं चिरं वः ॥
(रघु० १४।४२)

राम राजा पहले थे पिता, पुत्र या पति बाद में। रामराज्य में अथक प्रजातंत्र में शासक प्रजा के सन्देह को केवल यह कहकर नहीं टाल सकता कि उसे उक्त बात पर कोई विश्वास नहीं। यदि शासक की ही मर्जी पर व्यवस्था चले तो फिर रामराज्य में और तानाशाही में क्या अन्तर रह जायेगा ? समस्त प्रजा अपने नायक के किसी क्रियाकलाप पर युग के अनुरूप आपत्ति करती है तो प्रजातांत्रिक पद्धति पर विश्वास करने वाले नेता को प्रजा का विश्वास प्राप्त करने के लिए उसकी इच्छा का पालन करना पड़ेगा। कुछ अज्ञानी लोगों ने धोबी के साथ इस कथा को जोड़ दिया है जोकि निरा प्रमाद है। कालिदास स्पष्ट लिखते हैं—**पौरेषु सोऽहं बहुलीभवन्तम्**—इत्यादि। राम का यह कार्य सारी जनता की चर्चा का विषय बन चुका था। इसे जबरदस्ती दबाने का मतलब होता निरंकुशता। राम ने हृदय पर पत्थर रखकर 'निष्पाप' पत्नी को घर से निर्वासित कर दिया। उसकी दशा का वृत्तान्त सुनकर सहज धैर्य का बाँध तोड़कर टपाटप आँसू बहाते रहे[1]। अश्वमेध यज्ञ के लिए दूसरा विवाह नहीं किया[2] पर निरंकुशता का परिचय नहीं दिया।

सीता के सन्देश में जिस तेजोदीप्त वाणी का परिचय कालिदास ने दिया है वह विश्वसाहित्य में अद्भुत है। नारी का ऐसा दीप्त और उदार रूप कालिदास के सिवा और कोई कवि आज तक प्रस्तुत नहीं कर सका है।[3]

चारित्रिक दृढ़ता

भाव-चित्रण की दृष्टि से पञ्चदश सर्ग में सीता का पृथ्वी में समावेश हृदय को झकझोर सा जाता है। पर इस सर्ग के भाव-अंकन की समस्त कमी को सोलहवें सर्ग में कुश और अयोध्या की राज्यलक्ष्मी के सम्वाद में तथा कुश की जलक्रीडा के वर्णन में पूरा कर दिया है। प्रसंग के प्रारम्भ में ही कुश अर्धरात्रि के समय अपने शयनकक्ष में एक युवती को देखता है तो वह उससे

---

१. बभूव रामः सहसा सबाष्पस्तुषारवर्षीव सहस्यचन्द्रः।
कौलीनभीतेन गृहान्निरस्ता न तेन वैदेहसुता मनस्तः ॥ (रघु० १४।८४)

२. रघु १४/८७

३. रघु० १४/६१—६६

पूछता है—हे कल्याणि ! तुम कौन हो, किसकी पत्नी हो और मेरे पास किस लिए आई हो ? तुम यह समझकर मुँह खोलना कि रघुवंशियों का मन कभी पराई स्त्री की ओर आकृष्ट नहीं होता ।[१] और इसके बाद अयोध्या की अधिष्ठात्री देवी ने अयोध्या की जिस दीन-हीन दशा का चित्रण किया है वह बड़ा ही चित्तद्रावक है ।[२] जलक्रीडा वर्णन में तो कवि ने सरयू की तरंगों के साथ शृंगार की भी तरंगें उठा दी हैं ।[३]

इसके बाद दो सर्ग यद्यपि कथावृत्त को ही आगे बढ़ाने में अधिक सचेष्ट दिखाई देते हैं पर बीच-२ में कुछ लघु भावचित्र भी उभर आए हैं। अतिथि और सुदर्शन के प्रसंगों में इनकी योजना सुन्दर हुई है। भावचित्रों की कमी अग्निवर्ण में भी नहीं। शृंगारिक भावों का बड़ा गूढ़ एवं मधुर चित्रण इस सर्ग में खुलकर हुआ है यद्यपि अन्त में इसका रूप बदल जाता है।

उपसंहार

कहने का अभिप्राय यह है कि रघुवंश में आदि से अन्त तक भावव्यञ्जना की वह विविधता एवं मार्मिकता महाकवि ने संयोजित कर डाला है कि पाठक जैसे एक ओर कथाचक्र के रथ में बैठकर एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में प्रवेश करता जाता है वैसे ही उसके सामने निरन्तर बदलते हुए विविध रस-रंगी भावों की पिटारी भी खुलती जाती है जिसे देखकर हृदय एक अलौकिक रसात्मकता का अनुभव करता है।

---

१. का त्वं शुभे कस्य परिग्रहो वा किं वा मदभ्यागम कारणं ते ।
आचक्ष्व मत्वा वशिनां रघूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति । (रघु० १६।८)

२. निशासुभास्वत् कलनूपुराणां यः संचरोऽभूदभिसारिकाणाम् ।
नन्दन्मुखोल्काविचितामिषाभिः स वाह्यते राजपथः शिवाभि. । (रघु० १६।१२)
स्तम्भेषुयोषित्प्रतियातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम् ।
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति सङ्गान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः ॥ (रघु० १६।१७)

३ रघु० १६/५६—७०

देववाणी-परिषदा प्रकाशिताः
संग्रहणीया ग्रन्थाः

१. अर्वाचीनसंस्कृतमहाकाव्यविमर्शः (प्रथमखण्डः)
(सं० : डॉ० रमाकान्तशुक्लः) (दुष्प्राप्यः) रु० १५.००

२. अर्वाचीनसंस्कृतमहाकाव्यविमर्शः (द्वितीयखण्डः)
(सं० : डॉ० रमाकान्तशुक्लः) रु० ३०.००

३. कर्णभूषणम् (डॉ० सी० आर० स्वामिनाथन्) (पेपरबैक) रु० ५.००

४. देववाणीदर्शनम् (दुष्प्राप्यम्) रु० ५०.००

५. भाति मे भारतम् (काव्यम्) (प्रणेता-डॉ० रमाकान्तशुक्लः) रु० ४०.००

६. श्रीकृष्णचरितम् (उ०प्र०शासन-पुरस्कृतं महाकाव्यम्)
(प्रणेता-डॉ० रमेशचन्द्रशुक्लः) रु० ३०.००

७. सुगमरामायणम् (उ०प्र०-हरियाणा-शासन-पुरस्कृतं
महाकाव्यम्) (प्रणेता-डॉ० रमेशचन्द्रशुक्लः) रु० ३५.००

८. हरविजयस्य साहित्यिकमध्ययनम् (डॉ० कृष्णकान्तशुक्लः) रु० ६०.००

९. श्रीमदप्पयदीक्षितचरितम् (गद्यकाव्यम्)
(डॉ० हरिनारायणदीक्षितः) रु० २०.००

१०. भारतस्वातन्त्र्यसंग्रामेतिहासः (डॉ० रमेशचन्द्रशुक्लः) रु० ३५.००

११. सदाशयसमुच्चयः (प्रणेता-श्री टी० वी० परमेश्वर अय्यरः) रु० १५.००

१२. आभाणकमञ्जरी (प्रणेता-श्री टी० वी० परमेश्वर अय्यरः) रु० १५.००

१३. मेघदूत : एक विश्लेषण (लेखक : डॉ० देवीदत्त शर्मा) रु० २०.००

१४. रघुवंश : एक विश्लेषण (,, ,,) रु० २०.००

१५. अभिज्ञानशाकुन्तल : एक विश्लेषण (,, ,,) रु० २०.००

१६. कालिदास की कला और संस्कृति (भाग २) (,, ,,) रु० ६०.००

प्राप्तिस्थाने

१. 'देववाणी-परिषद्,दिल्ली' ६ वाणी-विहारः, नयी दिल्ली-११००५९

२. सुधाकमल ग्रन्थालय, २६४, उत्तरी गांधी कालौनी, मुजफ्फरनगर